

“सर्जिकल स्ट्राइक और उसके बाद

भारतीय सेना ने 29 सितम्बर को लाइन ऑफ कन्ट्रोल से पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर में आतंकवादी ठिकानों पर ‘सर्जिकल स्ट्राइक’ (लक्षित हमला) किया। इस घटना के बाद पक्ष-विपक्ष की पार्टियों में एक-दूसरे पर हवाई गोले दागने की होड़ लग गयी। मीडिया का एक बड़ा हिस्सा और सोशल मीडिया पर सक्रिय अतिउत्साही सरकार-समर्थक इस घटना को अभूतपूर्व बताते हुए सेना की बहादुरी की आड़ में सरकार की छवि चमकाने, अपने विरोधियों को देशद्रोही बताने और युद्धोन्माद का माहौल बनाने में जुट गये। रक्षामंत्री ने सेना की तुलना हनुमान से की, जिसे इस कार्रवाई से पहले अपनी शक्ति का आभास ही नहीं था, जबकि भाजपा ने उत्तर प्रदेश (जहाँ जल्दी ही चुनाव होने हैं) में उनका सम्मान समारोह आयोजित किया। उस आयोजन का बैनर उन्मादी नारों और भाजपा नेताओं की तस्वीरों से भरा हुआ था, सेना की बहादुरी का वहाँ कोई उल्लेख नहीं था। भावी चुनाव को देखते हुए पश्चिमी उत्तर प्रदेश सहित देश के तमाम इलाकों में भाजपा नेताओं की बड़ी-बड़ी तस्वीरों के साथ पाकिस्तान को धमकी और सरकार को बधाई देने वाले बैनर भी टंग गये। दूसरी तरफ सरकार बार-बार अपने विरोधियों को उपदेश देती रही कि सेना की इस कार्रवाई पर राजनीति न करें।

विख्यात युद्धविशारद कार्ल वॉन क्लॉजवित्ज ने कहा है कि “युद्ध कोई स्वतंत्र परिघटना नहीं है, बल्कि अलग-अलग साधनों से राजनीति की निरन्तरता है... राजनीति वह कोख है जहाँ युद्ध जन्म लेता है।” ऐसे में इस सैनिक कार्रवाई पर खुद राजनीति करने और दूसरों को न करने की हिदायत देने का भला क्या मतलब है? सेना की इस सामान्य कार्रवाई को इतना बढ़ा-चढ़ाकर पेश करने और युद्धनुमा दिखाने का क्या मतलब है?

‘सर्जिकल स्ट्राइक’ के ठीक बाद डायरेक्टर जनरल ऑफ मिलिट्री ऑपरेशन्स (डीजीएमओ) लेफ्टिनेंट जनरल रणवीर सिंह ने एक प्रेस वार्ता में बताया कि “सेना को बहुत ही विश्वसनीय जानकारी मिली कि आतंकवादी नियंत्रण रेखा के साथ लॉन्चपैड्स पर इसलिए एकत्रित हुए हैं ताकि सीमापार घुसपैठ कर जम्मू-कश्मीर या भारत के बड़े शहरों पर हमला कर सकें हैं। इसके आधार पर भारतीय सेना ने उन लॉन्चपैड्स पर बुधवार रात सर्जिकल स्ट्राइक्स

किये हैं। इसमें आतंकवादी और उनके समर्थकों को भारी नुकसान पहुँचाया गया है और कईयों को मार दिया गया है। इन ऑपरेशन्स को अब समाप्त कर दिया गया है। हमारा इन ऑपरेशन्स को जारी रखने का इरादा नहीं है क्योंकि इनका मकसद सिर्फ आतंकवादियों के खिलाफ कार्रवाई करना था। बुधवार रात के ऑपरेशन के बारे में मैंने पाकिस्तान के डायरेक्टर जनरल ऑफ मिलिट्री ऑपरेशन्स (डीजीएमओ) को फोन कर जानकारी दे दी है।”

स्पष्ट है कि सेना ने पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर में पहली बार सर्जिकल स्ट्राइक नहीं किया है। यह आतंकवादी घुसपैठ से निबटने के लिए सेना की सामान्य कार्रवाई है। पहले भी भारतीय सेना ऐसे हमले करती रही है। नयी बात बस यही है कि पहले यह आमतौर पर बिना शोर-शराबे के होता था, जबकि इस बार इसको लेकर जरूरत से ज्यादा हो-हल्ला मचाया जा रहा है और इस घटना को “भूतो न भविष्यति” बताते हुए सत्ता पक्ष द्वारा इससे भरपूर लाभ उठाने का प्रयास किया जा रहा है। दूसरी ओर सीमा पार से आज भी आतंकी घुसपैठ और झड़प जारी है।

“सर्जिकल स्ट्राइक” पर सत्ता पक्ष की धुआँधार राजनीति और सरकारपरस्त मीडिया की छद्म देशभक्ति और उन्मादी युद्धप्रेम अकारण नहीं है। पिछले लोकसभा चुनाव में भाजपा नेताओं ने पाकिस्तान और आतंकवाद को लेकर कांग्रेस को निकम्मा बताते हुए नरेंद्र मोदी की संग्रामी छवि बनायी थी। मनमोहन सिंह का “पाकिस्तान को प्रेमपत्र लिखनेवाला” कह कर मजाक उड़ाने, “भारतीय सैनिक के एक सर के बदले दस सर लाने”, “आरपार की लड़ाई लड़ने”, “छप्पन इंच का सीना”, जैसे जुमले भी खूब उछाले गये थे। लेकिन चुनाव जीतने के बाद प्रधानमंत्री मोदी की एक-एक कार्रवाई ने उनके भक्तों-समर्थकों को बुरी तरह हताश किया। अपने शपथग्रहण समारोह में नवाज शरीफ को आमन्त्रित करना, 2008 के मुम्बई आतंकी हमले के बाद से स्थगित द्विपक्षीय वार्ता को दुबारा शुरू करना, साड़ी-शाल और तोहफों का आदान-प्रदान, बिना निमन्त्रण अचानक नवाज शरीफ के पारिवारिक कार्यक्रम में शामिल होने पाकिस्तान जाना, यह सारी कवायद छप्पन इंच के सीने वाली छवि से बिलकुल भिन्न थी। हालाँकि तब इन्हीं बातों का हवाला देते हुए मीडिया मोदी की छवि एक शान्तिप्रिय और

सूझबूझ वाले राजनेता की बनाने में जुटी थी।

भक्तों के लिए प्रधानमंत्री मोदी की इस नयी छवि को पचाना भारी पड़ रहा था कि इसी बीच, बिना निमन्त्रण मोदी की पाकिस्तान यात्रा के हफ्तेभर के भीतर ही 2 जनवरी को पठानकोट के वायुसेना स्टेशन पर आतंकी हमला हुआ। इस घटना के लिए सरकार ने जिस पाकिस्तान को जिम्मेदार ठहराया, उसके ही खुफिया अधिकारियों को पठानकोट हमले की जाँच का न्योता भी दे दिया। बाद में भारत सरकार के आईएनए प्रमुख शरद कुमार ने कहा कि पठानकोट हमले में पाकिस्तान सरकार या उसकी किसी एजेंसी का कोई हाथ नहीं है।

18 सितम्बर को उरी में हुए आतंकी हमले में 18 जवानों की मौत हुई। इसके बाद भी सरकार पाकिस्तान को अलगाव में डालने के लिए कूटनीतिक प्रयास कर रही थी। इस्लामाबाद में आयोजित सार्क सम्मलेन का बहिष्कार, जिसका समर्थन तीन सदस्य देशों ने किया, सिन्धु नदी के पानी को यह कह कर रोकने के विकल्प पर विचार कि “पानी और खून एक साथ नहीं बह सकते” (हालाँकि विश्व बैंक समझौते के तहत पानी को पूरी तरह रोकना मुमकिन नहीं), उरी हमले से उपजी अन्तरराष्ट्रीय समुदाय की सहानुभूति का लाभ उठाते हुए पाकिस्तान को अलग-थलग करने के प्रयास और बीच-बीच में जवाबी कार्रवाई के बयान भी आते रहे। इसी क्रम में केरल की एक जनसभा में भाषण देते हुए प्रधानमंत्री ने युद्धविरोधी, शान्तिवादी लहजे में कहा कि पाकिस्तान ने हमें काफी निराश किया है लेकिन भारतीय सैनिक कार्रवाई के पक्ष में नहीं हैं। आगे पाकिस्तान की जनता को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा कि “पाकिस्तान की आवाम, मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि हिंदुस्तान आपसे लड़ाई लड़ने को तैयार है। आओ हिम्मत हो तो लड़ाई इस बात की लड़ें कि हम गरीबी को खत्म करने का काम करें। पाकिस्तान के नौजवानो, आओ लड़ाई लड़ें, पहले हिंदुस्तान बेरोजगारी को खत्म करता है या पहले पाकिस्तान बेरोजगारी को खत्म करता है। आओ बेरोजगारी को खत्म करने की लड़ाई लड़ें। देखें पहले कौन जीतता है। पाकिस्तान के उन छोटे-छोटे बालकों से बात करना चाहता हूँ। आइये हम अशिक्षा के खिलाफ लड़ाई लड़ें। पाकिस्तान भी अशिक्षा को खत्म करने के लिए लड़ाई लड़ें। हिंदुस्तान भी अशिक्षा को खत्म करने के लिए लड़ाई लड़ें। देखें पहले पाकिस्तान जीतता है कि हिंदुस्तान जीतता है। आओ लड़ाई लड़ें नवजात शिशुओं को बचाने की। प्रसूता माताओं को बचाने की। आप बचाकर के दिखाओ, हम बचाकर के दिखायें। देखें कौन जीतता है।”

जाहिर है कि उरी हमले और “सर्जिकल स्ट्राइक” के बीच प्रधानमंत्री मोदी के लिए एक-एक दिन अपने ही पुराने शब्दजाल में उलझते और उस उलझन को सुलझाते बीत रहा था। वे न तो

अपने छप्पन इंच के सीने और लौह पुरुष की छवि पर आँच आने देना चाहते थे और न ही पाकिस्तान पर हमला करने की स्थिति में थे। प्रधानमंत्री मोदी अपनी इस नयी छवि को चाहे जितनी सूझबूझ भरी और कूटनीति के लिहाज से कितना ही सुसंगत मानते हों, युद्धोन्माद और पाकिस्तान विरोध में दीक्षित, भाजपा कतारों के लिए यह तेवर हताश करनेवाला था। उनको लगता था कि मोदी जी पाकिस्तान से आरपार की लड़ाई छेड़कर उसका अस्तित्व मिटा देंगे। लेकिन उनको मोदी में मनमोहन की शान्तचित्त छवि दिखी, जिसको पिछले लोकसभा चुनाव में नकार कर ही भारत के इस नये मसीहा की प्राण-प्रतिष्ठा की गयी थी। इस पृष्ठभूमि में, खासकर उत्तर प्रदेश और पंजाब में भावी चुनावों के मद्देनजर यह समझना कठिन नहीं कि “सर्जिकल स्ट्राइक” को युद्ध के बरक्स ला खड़ा करने और देशभर में युद्धोन्माद फैलाने का राज क्या है।

मीडिया और सरकार ने युद्धोन्माद का जो माहौल बनाया उससे देश की समस्याओं का हल तो क्या होना है, लेकिन फौरी तौर पर यह सरकार की समस्याओं को टालने में जरूर सहायक रहा है। हाल ही में हुई मजदूरों की देशव्यापी हड़ताल से जाहिर हो गया था कि श्रम कानूनों में बदलाव और मजदूर विरोधी नीतियों के खिलाफ मजदूर वर्ग में सरकार के खिलाफ भारी आक्रोश व्याप्त है। देशभर में किसान अपनी फसलों की गिरती कीमतों से क्रुद्ध हैं और जगह-जगह पर आन्दोलन की तैयारी चल रही है, खासकर गन्ना और धान उत्पादक इलाकों में। आदिवासियों पर राज्य का दमन बढ़ता जा रहा है, जिसका ताजा उदाहरण है हजारीबाग में कोयला खादान की जमीन के लिए विस्थापित किये गये आदिवासियों पर पुलिस द्वारा गोली चलाकर 4 लोगों की हत्या और दर्जनों लोगों को घायल किया जाना। देश भर में मुसलामानों और दलितों पर हमले बढ़ रहे हैं। महाराष्ट्र और गुजरात जातीय टकराव की चपेट में है। राजधानी सहित देश के कई हिस्सों में मलेरिया, डेंगू और चिकनगुनिया महामारी का रूप ले चुके हैं जबकि महँगे निजी अस्पतालों ने लोगों की कमर तोड़ दी है। महँगाई, बेरोजगारी बेलगाम हो चुकी हैं। सरकार हर मोर्चे पर असफल साबित हुई है। इस विकट स्थिति में “सर्जिकल स्ट्राइक” उसके लिए वरदान से कम नहीं, जिसने इन सभी जमीनी सवालों को तात्कालिक रूप से ही सही, पृष्ठभूमि में धकेल दिया है।

दूसरी ओर, सीमा पर तनाव को देखते हुए सरहदी इलाके के सैकड़ों गाँवों को खाली करवाया गया, जिसको लेकर वहाँ के लोगों में काफी गुस्सा है। हजारों एकड़ में धान की फसल खड़ी है, जिसके चौपट होने का खतरा मौजूद है। ज्यादातर लोग वैकल्पिक रोजगार के आभाव और रोजी-रोटी की चिन्ता में अभी भी इलाका छोड़ने को तैयार नहीं हैं। युद्धोन्माद के माहौल में भी दोनों देशों

के बीच व्यापार लगातार जारी है, क्योंकि सरकार सरमायादारों के मुनाफे पर आँच नहीं आने देना चाहती। लेकिन इसी माहौल का लाभ उठाकर नफरत के सौदागरों ने पाकिस्तानी कलाकारों के खिलाफ जहर उगलने की अपनी पुरानी कार्रवाई तेज कर दी। यहाँ तक कि कुछ शहरों के स्कूली कार्यक्रम में आनेवाले पाकिस्तान के विद्यार्थियों का कार्यक्रम भी रद्द कर दिया गया।

जैसा कि उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है, 29 सितम्बर को सेना द्वारा की गयी कार्रवाई युद्ध नहीं था। जिनको भी युद्ध की विभीषिका का थोड़ा भी ज्ञान है वे युद्ध का समर्थन नहीं कर सकते। नाभिकीय हथियारों से लैस दो देशों के बीच युद्ध का अर्थ है दोनों देशों की तबाही। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद अभी तक दो परमाणु शक्तिसम्पन्न देशों के बीच कभी कोई आमने-सामने का युद्ध हुआ भी नहीं। फिर भाजपा के राज्यसभा सदस्य सुब्रह्मण्यम स्वामी जैसों का युद्ध के समर्थन में बयानबाजी करने और यह कहने का भला क्या मतलब है कि पाकिस्तान पर हमला किया जाय तो ज्यादा से ज्यादा 10 करोड़ भारतीय नागरिक ही मरेंगे जिसके लिए हमें तैयार रहना चाहिए, पाकिस्तान पर हमला करके उसे तबाह करने जैसी खोखली बयानबाजी का क्या मतलब है?

आजादी के बाद से अब तक पाकिस्तान के साथ चार युद्ध हुए, जिनमें दोनों देशों को भारी तबाही झेलनी पड़ी। पहले युद्ध (1947-1948) में भारत के 1500 सैनिक मारे गये और 3500 घायल हुए। दूसरे युद्ध (1965) में लगभग 3000 लोग मारे गये। तीसरे युद्ध (1971) में 3000 लोग मारे गये और 12,000 लोग घायल हुए। कारगिल युद्ध (1999) में भी 550 भारतीय सैनिक मारे गये। युद्धों में हुए कुल नुकसान का अनुमान इन आँकड़ों से पूरी तरह नहीं लगाया जा सकता। इसके घाव काफी गहरे होते हैं। लेकिन विचारणीय यह है कि इतनी भारी तबाही के बाद भी इन युद्धों से हमारे देश को क्या हासिल हुआ?

जो लोग “नये भारत का उदय” ‘आर-पार की लड़ाई’ और “मुँह तोड़ जवाब” देने की बात कर रहे हैं, जो लोग दिनरात युद्धोन्माद भड़काने की कार्रवाई में लिप्त हैं, उनको या तो युद्ध की विभीषिका का अनुमान नहीं या उनको भरोसा है कि युद्ध की तबाही का उन पर कोई असर नहीं होगा। युद्ध का लाभ मुट्ठी भर सैन्य सामग्री बनानेवालों, हथियार बनानेवाली देशी-विदेशी कम्पनियों, कमीशनखोरों और ठेकेदारों को होता है। उनके मुनाफे में दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ोतरी होती है जबकि दोनों तरफ से सरहद पर तैनात सैनिक और सरहद के पास के हजारों गांवों के निवासी पीढ़ियों तक इसकी कीमत चुकाते हैं। आज भी वहाँ हल जोतते समय खेतों में बम के गोले या लैंड माइन्स फटते हैं। युद्धों का इतिहास बताता है कि युद्धोन्मादी और अंधराष्ट्रवादी शासकों का हस्र क्या हुआ। सबसे बड़े अंधराष्ट्रवादी और युद्धोन्मादी, हिटलर

ने एक तहखाने में जाकर आत्महत्या की थी। मुसोलिनी को भीड़ ने पीट-पीट कर मार डाला और लाश को चौराहे पर उल्टा लटक दिया था लेकिन यह भी सच है कि युद्ध के दौरान करोड़ों निर्दोष और शांतिप्रिय लोगों को तोप का चारा बनना पड़ता है और बड़े-बड़े शहर खंडहर में बदल जाते हैं। आबादी में लूले-लंगड़े, विधवा-अनाथ लोगों की भरमार हो जाती है। इसीलिए कोई भी जनपक्षधर, विवेकवान और संवेदनशील इन्सान युद्ध का समर्थक नहीं हो सकता। युद्ध किसी समस्या का हल नहीं बल्कि खुद ही एक समस्या है। युद्ध मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा नहीं, बल्कि एक शनक है जो सत्तालोलुप लोगों की बर्बर महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए लोगों के दिमाग में सचेत रूप से भरा जाता है। इस सन्दर्भ में इराक की आत्मनिर्वासित कवयित्री दुन्या मिखाइल की कविता “युद्ध करता है अनथक मेहनत” बहुत ही सारगर्भित है, इसका अनुवाद ललित सुरजन ने किया है।

देखो सचमुच कितना

भव्य है युद्ध!

कितना तत्पर और

कितना कुशल!

अलससुबह वह

साइरनों को जगाता है और

एम्बुलेंस भेज देता है

दूर-दराज तक

हवा में उछाल देता है

शवों को और

घायलों के लिए

बिछा देता है स्ट्रेचर

वह माताओं की आँखों से

बुलाता है बरसात को

और धरती में गहरे तक धंस जाता है

कितना कुछ तितर-बितर कर

खंडहरों में

कुछ एकदम मुर्दा और चमकदार

कुछ मुरझाये हुए लेकिन

अब भी धड़कते हुए

वह बच्चों के मस्तिष्क में

उपजाता है हजारों सवाल

और आकाश में

राकेट व मिसाइलों की आतिशबाजी कर

देवताओं का दिल बहलाता है

खेतों में वह बोता है

लैंडमाइन और फिर उनसे
लेता है जख्मों व नासूरों की फसल
वह परिवारों को बेघर-विस्थापित
हो जाने के लिए करता है तैयार
पंडों-पुरोहितों के साथ होता है खड़ा
जब वे शैतान पर लानत
फेंक रहे होते हों
(बेचारा शैतान, उसे हर घड़ी देनी होती है अग्नि परीक्षा)
युद्ध काम करता है निरन्तर
क्या दिन और क्या रात
वह तानाशाहों को लम्बे भाषण देने के लिए
प्रेरित करता है
सेनापतियों को देता है मैडल
और कवियों को विषय
वह कृत्रिम अंग बनाने के कारखानों को
करता है कितनी मदद
मक्खियों तथा कीड़ों के लिए
जुटाता है भोजन
इतिहास की पुस्तकों में
जोड़ता है पन्ने व अध्याय
मरने और मारने वालों के बीच दिखाता है बराबरी
प्रेमियों को सिखाता है पत्र लिखना
व जवान औरतों को इंतजार
अखबारों को भर देता है
लेखों व फोटो से
अनाथों के लिए बनाता है नये घर
कफन बनाने वालों की कर देता है चांदी
कब्र खोदने वालों को देता है शाबासी
और नेता के चेहरे पर
चिपकाता है मुस्कान
युद्ध अनथक मेहनत करता है बेजोड़
फिर भी क्या बात है कि कोई उसकी तारीफ में
एक शब्द भी नहीं कहता।

पाठकों से अपील

- 'देश-विदेश' अंक 24 आपके हाथ में है। हमारा प्रयास है कि इसे अनियतकालीन पत्रिका की जगह हर तीन माह पर नियमित प्रकाशित किया जाय।
- जिन साथियों को पत्रिका निरन्तर डाक से भेजी जा रही है, वे कृपया सूचित करें कि उन्हें पत्रिका मिल रही है या नहीं और उन्हें आगे से भेजी जाय या नहीं।
- देश-विदेश अव्यवसायिक पत्रिका है। यह साथियों के श्रम और सहयोग से ही प्रकाशित होती है। आर्थिक संकट से जूझते हुए अब तक हमने 24 अंक निकाले। पाठकों के सहयोग से ही यह सम्भव हो पाया।
- पत्रिका अभी भी अनियमित है, इसलिए नियमित चन्दे की दर तय करना सम्भव नहीं। डाक से मँगवाने के लिए 5 अंकों की सहयोग राशि 100 रुपये या आजीवन सदस्यता न्यूनतम 1000 रुपये निम्नलिखित बैंक खाते में अन्तरित करें। और इसकी सूचना एसएमएस या ई मेल से भेज दें।

नाम : अतुल कुमार गुप्ता
S.B. A/C : 601510100024041
IFSC : BKID 0006015
बैंक ऑफ इण्डिया,
जीटी रोड, शाहदरा, दिल्ली-32
मनी ऑर्डर भेजने का पता है-
अतुल कुमार गुप्ता
1/4649/45 बी, गली न। 4,
न्यू मॉर्डन शहादरा
दिल्ली- 110032

प्रधानमंत्री जी यह कश्मीर का सच है

-सन्तोष भारतीय

(हिन्दी साप्ताहिक अखबार चौथी दुनिया के प्रधान सम्पादक सन्तोष भारतीय ने देश के प्रधानमंत्री के नाम एक खुला खत लिखा है, जिसमें उन्होंने कश्मीर के हालात से उन्हें अवगत कराया है।)

प्रिय प्रधानमंत्री जी,

मैं अभी-अभी चार दिन की यात्रा के बाद जम्मू-कश्मीर से लौटा हूँ। चारों दिन मैं कश्मीर वादी में रहा और मुझे ये लगा कि मैं, सन्तोष भारतीय, आपको वहाँ के हालात से अवगत कराऊँ। हालाँकि आपके यहाँ से पत्र का उत्तर आने की प्रथा समाप्त हो गयी है, ऐसा आपके साथियों का कहना है, लेकिन फिर भी इस आशा से मैं ये पत्र भेज रहा हूँ कि आप मुझे उत्तर दें या न दें, लेकिन पत्र को पढ़ेंगे अवश्य। इसे पढ़ने के बाद अगर आपको इसमें जरा भी तथ्य लगे, तो आप इसमें उठाये गये बिन्दुओं के ऊपर ध्यान देंगे। ये मेरा पूरा विश्वास है कि आपके पास जम्मू-कश्मीर को लेकर खासकर कश्मीर घाटी को लेकर जो खबरें पहुँचती हैं, वह सरकारी अधिकारियों द्वारा प्रायोजित खबरें होती हैं। उन खबरों में सच्चाई कम होती है। यदि आपके पास कोई ऐसा तंत्र हो, जो घाटी के लोगों से बातचीत कर आपको सच्चाई से अवगत कराये तो मेरा निश्चित मानना है कि आप उन तथ्यों को अनदेखा नहीं कर पायेंगे।

मैं घाटी में जाकर विचलित हो गया हूँ। जमीन हमारे पास है क्योंकि हमारी सेना वहाँ पर है, लेकिन कश्मीर के लोग हमारे साथ नहीं हैं। मैं पूरी जिम्मेदारी से ये तथ्य आपके सामने लाना चाहता हूँ कि 80 वर्ष की उम्र के व्यक्ति से लेकर 6 वर्ष तक के बच्चे के मन में भारतीय व्यवस्था को लेकर बहुत आक्रोश है। इतना आक्रोश है कि वे भारतीय व्यवस्था से जुड़े किसी भी व्यक्ति से बात नहीं करना चाहते हैं। इतना ज्यादा आक्रोश है कि वे हाथ में पत्थर लेकर इतने बड़े तंत्र का मुकाबला कर रहे हैं। अब वे कोई भी खतरा उठाने के लिए तैयार हैं जिसमें सबसे बड़ा खतरा नरसंहार का है। ये तथ्य मैं आपको इसी उद्देश्य को सामने रखकर लिख रहा हूँ कि कश्मीर में होने वाले शताब्दी के सबसे बड़े नरसंहार को बचाने में आपकी भूमिका सबसे महत्वपूर्ण है। हमारे सुरक्षा बलों में, हमारी सेना में ये भाव पनप रहा है कि जो भी कश्मीर में व्यवस्था के प्रति आवाज उठाता है, उसे अगर समाप्त कर दिया जाय, तो ये अलगाववादी आन्दोलन समाप्त हो सकता

है। व्यवस्था जिसे अलगाववादी आन्दोलन कहती है, दरअसल वह अलगाववादी आन्दोलन नहीं है, वह कश्मीर की जनता का आन्दोलन है। अगर 80 वर्ष के वृद्ध से लेकर 6 वर्ष का बच्चा तक आजादी, आजादी, आजादी कहे, तो मानना चाहिए कि पिछले 60 वर्षों में हमसे बहुत बड़ी चूक हुई है और वे चूकें जान-बूझकर हुई हैं। इन चूकों को सुधारने का काम आज इतिहास ने, समय ने आपको सौंपा है। आशा है आप कश्मीर की स्थिति को तत्काल नये सिरे से जानकर अपनी सरकार के कदमों का निर्धारण करेंगे। प्रधानमंत्री जी, कश्मीर में पुलिसवालों से लेकर, वहाँ के व्यापारी, छात्र, सिविल सोसायटी के लोग, लेखक, पत्रकार, राजनीतिक दलों के लोग और सरकारी अधिकारी, वे चाहे कश्मीर के रहने वाले हों या कश्मीर के बाहर के लोग जो कश्मीर में काम कर रहे हैं, सबका ये मानना है कि व्यवस्था से बहुत बड़ी भूल हुई है। इसलिए कश्मीर का हर आदमी भारतीय व्यवस्था के खिलाफ खड़ा हो गया है। जिसके हाथ में पत्थर नहीं है उसके मन में पत्थर है। ये आन्दोलन जन आन्दोलन बन गया है, ठीक वैसा ही जैसे भारत का सन 42 का आन्दोलन था या फिर जयप्रकाश आन्दोलन था, जिसमें नेता की भूमिका कम थी, लोगों की भूमिका ज्यादा थी।

कश्मीर में इस बार बकरीद नहीं मनायी गयी, किसी ने नये कपड़े नहीं पहने, किसी ने कुर्बानी नहीं दी। किसी के घर में खुशियाँ नहीं मनीं। क्या ये भारत के उन तमाम लोगों के मुँह पर तमाचा नहीं है, जो लोकतंत्र की कसमें खाते हैं। आखिर ऐसा क्या हो गया कि कश्मीर के लोगों ने त्योहार मनाना बन्द कर दिया, ईद-बकरीद मनानी बन्द कर दी और इस आन्दोलन ने वहाँ के राजनीतिक नेतृत्व के खिलाफ एक बगावत का रूप धारण कर लिया। जिस कश्मीर में 2014 में हुए चुनाव में लोगों ने वोट डाले, आज उस कश्मीर में कोई भी व्यक्ति भारतीय व्यवस्था के प्रति सहानुभूति का एक शब्द कहने के लिए तैयार नहीं है। मैं आपको स्थितियाँ इसलिए बता रहा हूँ कि पूरे देश का प्रधानमंत्री होने के नाते आप इसका कोई रास्ता निकाल सकें।

कश्मीर के घरों में लोग शाम को एक बल्ब जलाकर रहते हैं। ज्यादातर घरों में ये माना जाता है कि हमारे यहाँ इतना दुख है, इतनी हत्याएँ हो रही हैं, दस हजार से ज्यादा लोग पैलेट गन से घायल हुए हैं, 500 से ज्यादा लोगों की आँखें चली गयी हैं, ऐसे समय हम चार बल्ब घर में जलाकर खुशी का इजहार कैसे कर सकते हैं? हम एक बल्ब जलाकर रहेंगे। प्रधानमंत्री जी, मैंने देखा है कि लोग घरों में एक बल्ब जलाकर रह रहे हैं। मैंने ये भी कश्मीर में देखा कि किस तरह सुबह आठ बजे सड़कों पर पत्थर लगा दिये जाते हैं और शाम के 6 बजे अपने आप वही लड़के जिन्होंने पत्थर लगाये हैं, सड़क से पत्थर हटा देते हैं। दिन में वे पत्थर चलाते हैं, शाम को वे अपने घरों में इस दुःशंका में सोते हैं कि उन्हें कब सुरक्षा बल के लोग आकर उठा ले जायें, फिर वे कभी अपने घर को वापस लौटें या न लौटें। ऐसी स्थिति तो अंग्रजों के शासन काल में भी नहीं थी। ये मानसिकता, जितनी हम इतिहास में पढ़ते हैं, सामान्य जन में इतना डर नहीं था, लेकिन आज कश्मीर का हर आदमी, वह हिन्दू हो, मुसलमान हो, सरकारी नौकर हो, छात्र हो, बेकार हो, व्यापारी हो, सब्जी वाला हो, ठेले वाला हो या टैक्सी वाला हो, डरा हुआ है और शायद मुझे विश्वास नहीं होता है कि क्या हम उन्हें और डराने या और ज्यादा परेशान करने की रणनीति पर तो नहीं चल रहे हैं।

कश्मीर में पिछले साठ वर्षों में व्यवस्था की चूक, लापरवाही या आपराधिक अनदेखी की वजह से लोगों को याद आ गया है कि जब कश्मीर को हिन्दुस्तान में शामिल करने का समझौता हुआ था, जिसे वे एकोर्ड कहते हैं, महाराजा हरि सिंह और भारत सरकार के बीच, जिसके गवाह महाराजा हरि सिंह के बेटे डॉ. कर्ण सिंह अभी जिन्दा हैं, उसमें साफ लिखा था कि धारा 370 तब तक रहेगी जब तक कश्मीर के लोग अपने भविष्य को लेकर अन्तिम फैसला मत संग्रह के द्वारा नहीं कर लेते। कश्मीर के लोग इस जनमत संग्रह को चार-पाँच साल में भूल गये थे। शेख अब्दुल्ला वहाँ सफलतापूर्वक शासन कर रहे थे, लेकिन प्रधानमंत्री जी, भारत के पहले प्रधानमंत्री ने जब शेख अब्दुल्ला को जेल में डाला तब से कश्मीर में भारत के प्रति अविश्वास पैदा हुआ। 1974 में शेख अब्दुल्ला और इंदिरा गांधी के बीच एक समझौता हुआ, उसके बाद शेख अब्दुल्ला को दोबारा कश्मीर का मुख्यमंत्री बनाया गया। शेख अब्दुल्ला पाकिस्तान भी गये और उन्होंने अपना शासन चलाया, लेकिन उन्होंने सरकार से जिन-जिन चीजों की माँग की, सरकार ने वह नहीं किया और फिर कश्मीर के लोगों के मन में दूसरे घाव लगे।

1982 में पहली बार शेख अब्दुल्ला के बेटे फारूक अब्दुल्ला कांग्रेस के खिलाफ चुनाव लड़े और वहाँ उन्हें बहुमत हासिल हुआ। शायद दिल्ली में बैठी कांग्रेस कश्मीर को अपना उपनिवेश समझ बैठी थी और उसने फारूक अब्दुल्ला की सरकार गिरा दी। फारूक अब्दुल्ला की जीत हार में बदल गयी और यहाँ से कश्मीरियों के मन में भारतीय व्यवस्था को लेकर नफरत का भाव

पैदा हुआ। आपके प्रधानमंत्री बनने से पहले तक दिल्ली में बैठी तमाम सरकारों ने कश्मीर के लोगों को ये विश्वास ही नहीं दिलाया कि वे भी भारतीय व्यवस्था के वैसे ही अंग हैं, जैसे हमारे देश के दूसरे राज्य। कश्मीर में एक पूरी पीढ़ी, जो सन 1952 के बाद पैदा हुई, उसने आज तक लोकतंत्र का नाम ही नहीं सुना, उसने आज तक लोकतंत्र का स्वाद ही नहीं चखा। उसने वहाँ सेना देखी, पैरामिलिट्री फोर्स देखी, गोलियाँ देखी, बारूद देखी और मौतें देखी। उसको ये अन्दाज नहीं है कि हम दिल्ली में, उत्तर प्रदेश में, बंगाल में, महाराष्ट्र में, गुजरात में किस तरह जीते हैं और किस तरह हम लोकतंत्र की दुहाई देते हुए लोकतंत्र नाम की व्यवस्था का स्वाद चखते हैं। क्या कश्मीर के लोगों का ये हक नहीं है कि वे भी लोकतंत्र का स्वाद चखें, लोकतंत्र की अच्छाइयों के समन्दर में तैरें या उनके हिस्से में बन्दूकें, टैंक, पैलेट गन्स और फिर सम्भावित नरसंहार ही आयेगा।

प्रधानमंत्री जी, ये बातें मैं आपसे इसलिए कह रहा हूँ कि आपको लोगों ने ये बतला दिया है कि कश्मीर का हर व्यक्ति पाकिस्तानी है। हमें कश्मीर में एक भी आदमी पाकिस्तान की तारीफ करता हुआ नहीं मिला। लेकिन उनका ये जरूर कहना है कि आपने जो हमसे वादा किया था, वह पूरा नहीं किया। आपने हमें रोटी जरूर दी, लेकिन थप्पड़ मारते हुए दी, आपने हमें हिंकारत से देखा, आपने हमें बेइज्जत किया, आपने हमारे लिए लोकतंत्र की रोशनी न आने देने की साजिश की और इसलिए आजादी के बाद पहली बार, ये आन्दोलन कश्मीर के गाँव तक फैला। हर पेड़ पर, हर मोबाइल टावर के ऊपर, हर जगह प्रधानमंत्री जी पाकिस्तानी झंडा है और जब हमने पता किया तो उन्होंने कहा कि नहीं हम पाकिस्तान नहीं जाना चाहते हैं, लेकिन आप पाकिस्तान से चिढ़ते हैं, इसलिए हम पाकिस्तानी झंडा लगाते हैं और ये कहने में कश्मीर के बहुत से लोगों के मन में कोई पश्चाताप नहीं था। कश्मीर के लोग भारत की व्यवस्था को, सत्ता को चिढ़ाने के लिए जब भारत की क्रिकेट में हार होती है, तो जश्न मनाते हैं वे सिर्फ पाकिस्तान की टीम की जीत पर जश्न नहीं मनाते, खुश नहीं होते, अगर हम न्यूजीलैंड से हार जायें, अगर हम बांग्लादेश से हार जायें, अगर हम श्रीलंका से हार जायें, तब भी वे उसी सुख का अनुभव करते हैं। क्योंकि उन्हें ये लगता है कि हम भारतीय व्यवस्था की किसी भी खुशी को नकार कर अपना विरोध प्रदर्शित कर रहे हैं। प्रधानमंत्री जी, क्या इस मनोविज्ञान को भारत की सरकार को समझने की जरूरत नहीं है। कश्मीर के लोग अगर हमारे साथ नहीं होंगे, तो हम कश्मीर की जमीन लेकर क्या करेंगे। कश्मीर की जमीन में कुछ भी पैदा नहीं होगा, फिर वहाँ न टूरिज्म होगा, न वहाँ मोहब्बत होगी, सिर्फ एक सरकार होगी और हमारी फौज होगी। प्रधानमंत्री जी, कश्मीर के लोग आत्मनिर्णय का अधिकार चाहते हैं, वे कहते हैं कि एक बार आप हमसे ये जरूर पूछिये कि हम भारत के साथ रहना चाहते हैं कि हम पाकिस्तान के साथ रहना चाहते हैं या हम

एक आजाद देश बनाना चाहते हैं और उसमें सिर्फ भारत के साथ शामिल हुआ कश्मीर नहीं शामिल है। उसमें वे पाकिस्तान के अधिकार में पड़ने वाले कश्मीर, गिलगिट, बलटिस्तान इन तीनों के लिए जनमत संग्रह चाहते हैं और इसके लिए वे चाहते हैं कि भारत, पाकिस्तान के साथ बातचीत करे कि अगर भारत यहाँ ये अधिकार देने को तैयार है, तो वे भी वहाँ पर वो अधिकार दें।

प्रधानमंत्री जी, ये स्थिति क्यों आयी, ये स्थिति इसलिए आयी कि अब तक संसद ने चार प्रतिनिधिमंडल कश्मीर में भेजे, उन चारों सर्वदलीय प्रतिनिधिमंडलों ने, जो संसद का प्रतिनिधित्व करते थे, सरकार को क्या रिपोर्ट दी, वह किसी को नहीं मालूम। लेकिन जो भी रिपोर्ट दी हो, उस पर अमल नहीं हुआ। सरकार ने अपनी तरफ से श्री राम जेठमलानी और श्री केसी पंत को वहाँ पर दूत के रूप में भेजा और इन लोगों ने वहाँ बहुत से लोगों से बातचीत की, लेकिन इन लोगों ने सरकार से क्या कहा, ये किसी को नहीं पता। आपके पहले के प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने इंटरलोकैटर की टीम बनायी थी, जिसमें दिलीप पडगांवकर, राधा कुमार, एम. एम. अंसारी थे, इन लोगों ने क्या रिपोर्ट दी, किसी को नहीं पता, उस पर बहस नहीं हुई, उस पर चर्चा नहीं हुई। जम्मू-कश्मीर की विधानसभा ने सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पारित किया कि उन्हें क्या अधिकार चाहिए, उसे कूड़े की टोकरी में फेंक दिया गया। कश्मीर के लोगों को ये लगता है कि हमारा शासन हम नहीं चलाते, दिल्ली में बैठे कुछ अफसर चलाते हैं, इंटेलेजेंस ब्यूरो चलाती है, सेना के लोग चलाते हैं, हम नहीं चलाते। हम तो यहाँ पर गुलामों की तरह से जी रहे हैं, जिसे रोटी देने की कोशिश तो होती है, लेकिन जीने का कोई रास्ता उसके लिए खुला नहीं है। प्रधानमंत्री जी, कश्मीर के लिए जो पैसा एलॉट होता है वह वहाँ नहीं पहुँचता, पंचायतों के पास पैसा नहीं पहुँचता, कश्मीर को जितने पैकेज मिले, वे नहीं पहुँचे और आपने 2014 में जब दिवाली कश्मीर के लोगों के बीच बितायी थी, कहा था कि वहाँ इतनी बाढ़ आयी है, इतना नुकसान हुआ है, इतने हजार करोड़ रुपये का पैकेज कश्मीर को दिया जाएगा। प्रधानमंत्री जी, वो पैकेज नहीं मिला है, उसका कुछ हिस्सा स्व. मुफ्ती मोहम्मद सईद के निधन के बाद जब महबूबा मुफ्ती ने थोड़ा दबाव डाला, तो कुछ पैसा रिलीज हुआ। कश्मीर के लोगों को ये मजाक लगता है, अपना अपमान लगता है।

प्रधानमंत्री जी, क्या ये सम्भव नहीं कि जितने भी संसदीय प्रतिनिधिमंडल अब तक कश्मीर गये, इंटरलोकैटर्स की रिपोर्ट, केसी पंत और श्री राम जेठमलानी के सुझाव तथा और भी जिन लोगों ने कश्मीर के बारे में आपको राय दी हो, आपसे मतलब, आपके कार्यालय को अब तक राय दी हो, क्या उन रायों को लेकर हमारे भूतपूर्व प्रधान न्यायाधीशों का एक आठ या दस का ग्रुप बनाकर उनके सामने वह रिपोर्ट नहीं सौंपी जा सकती कि इसमें तत्काल क्या-क्या लागू करना है, उन बिन्दुओं को तलाशें। क्या

इंटरलोकैटर्स की रिपोर्ट बिना किसी शर्त के लागू कर उस पर अमल नहीं कराया जा सकता, चूंकि ये सारी चीजें नहीं हुईं, इसलिए कश्मीर के लोग अब आजादी चाहते हैं और ये आजादी की भावना इतनी बढ़ गयी है प्रधानमंत्री जी, मैं फिर दोहराता हूँ, मुझे पुलिस से लेकर, 80 साल के वृद्ध से लेकर, लेखक, पत्रकार, व्यापारी, टैक्सी चलाने वाले, हाउसबोट के लोग और 6 साल का बच्चा तक, ये सब आजादी की बात करते दिखायी दिये। एक भी व्यक्ति मुझे ऐसा नहीं मिला, जिसने ये कहा हो कि उसे पाकिस्तान जाना है, उसे मालूम है पाकिस्तान की हालत क्या है और जिन हाथों में पत्थर हैं, उन हाथों को ये पत्थर पकड़ने की ताकत अगर किसी ने दी है, तो ये हमारी व्यवस्था ने दी है।

प्रधानमंत्री जी, मेरे मन में एक बड़ा सवाल है कि क्या पाकिस्तान इतना बड़ा है कि वह पत्थर चलाने वाले बच्चों को रोज पाँच सौ रुपये दे सकता है और क्या हमारी व्यवस्था इतनी खराब है कि अब तक उस व्यक्ति को नहीं पकड़ पायी, जो वहाँ पाँच-पाँच सौ रुपये बाँट रहा है। कर्पयू है, लोग सड़कों पर नहीं निकल रहे हैं, कौन मोहल्ले में जा रहा है पाँच सौ रुपये बाँटने के लिए। पाकिस्तान क्या इतना ताकतवर है कि पूरे 60 लाख लोगों को भारत जैसे 125 करोड़ लोगों के देश के खिलाफ खड़ा कर सकता है। मुझे ये मजाक लगता है, कश्मीर के लोगों को भी ये मजाक लगता है। कश्मीर के लोगों को हमारी व्यवस्था के अंग मीडिया से भी बहुत शिकायत है, वे कई चैनलों का नाम लेते हैं जिनको देखकर लगता है कि ये देश में साम्प्रदायिक भावना को बढ़ाने का काम कर रहे हैं। इसमें कुछ महत्वपूर्ण चैनल अंग्रेजी के हैं और कुछ हिंदी के भी हैं। मैं मानता हूँ कि हमारे साथी राज्यसभा में जाने या अपना नाम पत्रकारिता के इतिहास में प्रथम श्रेणी में लिखवाने के क्रम में इतना अंधे हो गये हैं कि वो देश की एकता और अखंडता से भी खेल रहे हैं। पर प्रधानमंत्री जी, इतिहास निर्मम होता है, वह ऐसे पत्रकारों को देशप्रेमी नहीं देशद्रोही मानेगा, क्योंकि ऐसे लोग जो पाकिस्तान का नाम लेते हैं या हर चीज में पाकिस्तान का हाथ देखते हैं, वे लोग दरअसल पाकिस्तान के दलाल हैं, वे मानसिक रूप से हिंदुस्तान और कश्मीर के लोगों में ये भावना पैदा कर रहे हैं कि पाकिस्तान एक बड़ा सशक्त, बड़ा समर्थ और बहुत विचारवान देश है। प्रधानमंत्री जी, इन लोगों को जब समझ में आयेगा, तब आयेगा या समझ में नहीं आये, मुझे उससे चिन्ता नहीं है। मेरी चिन्ता भारत के प्रिय प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी को लेकर है। नरेन्द्र मोदी को इतिहास अगर इस रूप में आँके कि उन्होंने कश्मीर में एक बड़ा नरसंहार करवाकर कश्मीर को भारत के साथ जोड़े रखा, शायद वह आने वाली पीढ़ियों के लिए बहुत दुःखद इतिहास होगा। इतिहास नरेन्द्र मोदी को इस रूप में जाने कि उन्होंने कश्मीर के लोगों का दिल जीता। उन्हें उन सारे वादों की भरपाई करने का आश्वासन दिया, जिन्हें साठ साल से कश्मीरियों से किया जाता रहा है। कश्मीर के लोग सोना नहीं

माँगते, चांदी नहीं माँगते, हीरा नहीं माँगते। कश्मीर के लोग इज्जत माँगते हैं। प्रधानमंत्री जी मैंने जितने वर्गों की बात की, ये सब 'स्टेक होल्डर' हैं।

प्रधानमंत्री जी, ये सारे लोग स्टेक होल्डर हैं और इनमें हरियत के लोग भी शामिल हैं। हरियत के लोगों का इतना नैतिक दबाव कश्मीर में है कि वे जो कैलेंडर शुक्रवार को वहाँ जारी करते हैं, वह हर एक के पास पहुँच जाता है। अखबारों में छपा कि हर एक को उसकी जानकारी हो गयी और लोग सात दिन उस कैलेंडर के ऊपर काम करते हैं, वे कहते हैं कि 6 बजे तक बाजार बन्द रहेंगे, 6 बजे तक बाजार बन्द रहते हैं और 6 बजे बाजार अपने आप खुल जाते हैं। प्रधानमंत्री जी, वहाँ तो बैंक भी 6 बजे के बाद खुलने लगे हैं, जो आपकी व्यवस्था के अन्तर्गत आते हैं, वहाँ पर हमारे सुरक्षाबलों के लोग 6 बजे के बाद नहीं घूमते, 6 बजे के पहले ही घूमते हैं और इसीलिए हमारा कोर कमांडर सरकार से कहता है कि हमें इस राजनीतिक झगड़े में मत फँसाइये। प्रधानमंत्री जी, ये छोटी चीज नहीं है, हमारी फौज का कमांडर वहाँ की सरकार से कहता है कि हमें इस राजनीतिक झगड़े में मत फँसाइये। हम सिविलियन के लिए नहीं हैं, हम दुश्मन के लिए हैं।

इसीलिए जहाँ सेना का सामना होता है, तो वे पत्थर का जवाब गोली से देते हैं। लोगों की मौतें होती हैं, लेकिन सेना की इस भावना को तो समझने की जरूरत है। सेना अपने देश के नागरिकों के खिलाफ कानून-व्यवस्था बनाये रखने की चीज नहीं है। सुरक्षा बल पैलेट गन चलाते हैं, लेकिन उनका निशाना कमर से नीचे नहीं होता है। कमर से ऊपर हुआ है इसलिए दस हजार लोग घायल पड़े हैं। प्रधानमंत्री जी, मैं कश्मीर के दौरे में अस्पतालों में गया। मुझे कहा गया कि चार-पाँच हजार पुलिसवाले भी घायल हुए हैं। सुरक्षा बलों के लोग घायल हुए हैं। मुझे पत्थरों से घायल सुरक्षा बलों के लोग तो दिखायी दिये, लेकिन उनकी संख्या काफी कम थी। ये हजारों की संख्या वाली बात हमारा प्रचार तंत्र कहता है, जिस पर कोई भरोसा नहीं करता और अगर ऐसा है तो हम पत्रकारों को उन जवानों से मिलवाइये जो दो हजार की संख्या में, एक हजार की संख्या में घायल कहीं इलाज करा रहे हैं। पर हमने अपनी आँखों से जमीन पर, एक-दूसरे से बिस्तर शेयर करते हुए लोगों को देखा, जो घायल थे। हमने बच्चों को देखा जिनकी आँखें चली गयीं, जो कभी वापस नहीं आयेंगी। इसलिए मैं ये पत्र बड़े विश्वास और भावना के साथ लिख रहा हूँ और मैं जानता हूँ कि आपके पास अगर ये पत्र पहुँचेगा तो आप इसे पढ़ेंगे और हो सकता है कुछ अच्छा भी करें। लेकिन मुझे इसमें शक है कि ये पत्र आपके पास पहुँचेगा इसलिए मैं इसे चौथी दुनिया अखबार में छाप रहा हूँ ताकि कोई तो आपको बताये कि सच्चाई ये है।

प्रधानमंत्री जी, एक कमाल की बात आपको बताता हूँ। मुझे श्रीनगर में हर आदमी अटल बिहारी वाजपेयी जी की तारीफ करता हुआ मिला। लोगों को सिर्फ एक प्रधानमंत्री का नाम याद है और

वह हैं अटल बिहारी वाजपेयी जिन्होंने लाल चौक पर खड़े होकर कहा था कि मैं पाकिस्तान की तरफ दोस्ती का हाथ बढ़ाता हूँ। उन्हें कश्मीर के लोग कश्मीर की समस्याओं को हल करने वाले मसीहा की तरह याद करते हैं। उन्हें लगता है कि अटल बिहारी वाजपेयी कश्मीर के लोगों का दुख-दर्द समझते थे और उनका आँसू पोछना चाहते थे। प्रधानमंत्री जी, वे आपसे भी वैसी ही आशा करते हैं, लेकिन उन्हें विश्वास नहीं है। उन्हें इसलिए विश्वास नहीं है क्योंकि आप सारे विश्व में घूम रहे हैं। आप लाओस, चीन, अमरीका, सऊदी अरब हर जगह जा रहे हैं। दुनिया भर की यात्रा करने वाले आप पहले प्रधानमंत्री बने हैं, पर अपने ही देश के साठ लाख लोग आपसे नाराज हो गये हैं। ये साठ लाख लोग इसलिए नहीं नाराज हुए कि आप भारतीय जनता पार्टी के हैं। इसलिए नाराज हुए कि आप भारत के प्रधानमंत्री हैं और प्रधानमंत्री के दिल में अपने ही देश के नाराज लोगों के लिए जितना प्यार होना चाहिए वह प्यार अब नहीं दिखाई दे रहा है। इसलिए मेरा आग्रह है कि आप स्वयं कश्मीर जायें, वहाँ के लोगों से मिलें, हालात का जायजा लें और कदम उठायें। निश्चित मानिये कश्मीर के लोग इसे हाथोंहाथ लेंगे। लेकिन बात आपको वहाँ कश्मीर के सभी स्टेक होल्डर से करनी होगी। हरियत से भी।

प्रधानमंत्री जी, मेरे साथ अशोक वानखेड़े, जो मशहूर स्तम्भकार हैं और टेलीविजन पर राजनीतिक विश्लेषण करते हैं, प्रोफेसर अभय दूबे, ये भी वरिष्ठ राजनीतिक विश्लेषक हैं, जो टेलीविजन पर आते रहते हैं और रिसर्च विशेषज्ञ हैं, ये लोग भी साथ थे। और हम तीनों कई बार कश्मीर की हालत देखकर रोये। हमें लगा कि सारे देश में ये भावना फैलायी गयी है, योजनापूर्वक एक ग्रुप ने ये भावना फैलायी है कि कश्मीर का हर आदमी पाकिस्तानी है। कश्मीर का हर आदमी देशद्रोही है और सारे लोग पाकिस्तान जाना चाहते हैं। नहीं प्रधानमंत्री जी, ये सच नहीं है। कश्मीर के लोग अपने लिए रोजी चाहते हैं, रोटी चाहते हैं, लेकिन इज्जत के साथ चाहते हैं। वे चाहते हैं कि उनके साथ वैसा ही व्यवहार हो, जैसा बिहार, बंगाल, असम के साथ होता है। अब प्रधानमंत्री जी, एक चीज और मैंने देखी कि क्या कश्मीर के लोगों को मुम्बई के लोगों की तरह, पटना के लोगों की तरह, अहमदाबाद के लोगों की तरह, दिल्ली के लोगों की तरह जीने का या रहने का अधिकार नहीं मिल सकता। हम 370 खत्म करेंगे, 370 खत्म होना चाहिए, इसका प्रचार सारे देश में कर रहे हैं। कश्मीरियों को अमानवीय बनाने का प्रचार कर रहे हैं। लेकिन हम देश के लोगों को ये नहीं बताते कि भारत सरकार का एक निर्णय था कि कश्मीर कभी हमारा अंग नहीं रहा और कश्मीर को जब हमने 47 में अपने साथ मिलाया, तो हमने दो देशों के बीच एक सन्धि की थी, समझौता किया था। कश्मीर हमारा संवैधानिक अंग नहीं है, लेकिन हमारी संवैधानिक व्यवस्था ने आत्मनिर्णय के अधिकार से पहले धारा 370 दी। प्रधानमंत्री जी, क्या ये नहीं कहा जा सकता कि हम कभी 370

के साथ छेड़छाड़ नहीं करेंगे और 370 क्या है? 370 है कि विदेश नीति, सेना और करैसी के अलावा हम कश्मीर के शासन में किसी तरह का हस्तक्षेप नहीं करेंगे। पर पिछले 65 साल इसके उदाहरण हैं कि हमने, मतलब दिल्ली की सरकार ने, वहाँ लगातार नाजायज हस्तक्षेप किया। सेना को कहिये कि वह सीमाओं की रक्षा करे। जो सीमा पार करने की कोशिश करे, उसके साथ वैसा ही व्यवहार करे, जैसा एक आतंकवादी या दुश्मन के साथ होता है। लेकिन लोगों के साथ, लोगों को तो दुश्मन मत मानिये। देश के, कश्मीर के लोगों को इस बात का रंज है, इस बात का दुख है कि इतना बड़ा जाट आन्दोलन हुआ, गोली नहीं चली, कोई नहीं मरा। गूजर आन्दोलन हुआ, कोई आदमी नहीं मरा, कहीं पुलिस ने गोली नहीं चलायी। अभी कावेरी को लेकर कर्नाटक में, बेंगलुरु में इतना बड़ा आन्दोलन हुआ, पर एक गोली नहीं चली। क्यों कश्मीर में ही गोलियाँ चलती हैं और क्यों कमर से ऊपर चलती हैं और छह साल के बच्चों पर चलती हैं? छह साल का बच्चा प्रधानमंत्री जी, वह क्यों हमारे खिलाफ हो गया? वहाँ की पुलिस हमारे खिलाफ है।

लोगों का दिल जीतने की जरूरत है और आप इसमें सक्षम हैं। आपने लोगों का दिल जीता इसलिए आप प्रधानमंत्री बने हैं और अकल्पनीय बहुमत के साथ प्रधानमंत्री बने हैं। क्या आप ईश्वरनर द्वारा दी गयी, इतिहास द्वारा दी गयी, वक्त द्वारा दी गयी अपनी इस जिम्मेदारी को निभायेंगे कि कश्मीर के लोगों का भी दिल जीतें और उनके साथ हो रहे भेदभाव, अमानवीय व्यवहार से निजात दिलायें। उनके मन में ये भावना भरें कि वह भी विश्व के, भारत के किसी भी प्रदेश के वैसे ही सम्माननीय नागरिक हैं, जैसे आप और हम। मुझे पूरी उम्मीद है कि आप बिना वक्त खोये कश्मीर के लोगों का दिल जीतने के लिए तत्काल कदम उठायेंगे और बिना समय खोये अपने दल के लोगों को अपनी सरकार के लोगों को, कश्मीर के बारे में कैसा व्यवहार करना है, इसका निर्देश देंगे। मैं पुनः आपसे अनुरोध करता हूँ कि आप हमें उत्तर दें या न दें, लेकिन कश्मीर के लोगों को उनके दुख-दर्द, आँसू कैसे पोंछ सकते हैं, इसके लिए कदम जरूर उठायें।

(साभार : चौथी दुनिया)



मलेरिया की वापसी

पिछले पाँच सालों में आदिवासी व ग्रामीण क्षेत्रों में मलेरिया छः फीसदी की रफ्तार से बढ़ा है। प्लज्मोडियम फेलिसपोल नाम की मलेरिया की नयी नस्ल के रोगियों की संख्या सबसे ज्यादा है। भारत की सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा के शोधकर्ताओं का कहना है कि भारत में ऐसे रोगियों की संख्या लगभग 8 करोड़ प्रतिवर्ष है।

सरकार कहती है कि भारत में हर साल 25 से 28 लाख लोग मलेरिया की चपेट में आते हैं जिनमें से लगभग 800 लोगों की मौत हो जाती है।

जबकि विश्व स्वास्थ्य संगठन का कहना है कि भारत मलेरिया के सर्वाधिक रोगियों वाले देशों में से एक है। यहाँ हर साल दो करोड़ लोग इसकी चपेट में आते हैं, जिनमें से हर साल 22 हजार लोगों की मौत हो जाती है। एक अन्य अन्तरराष्ट्रीय संस्था का कहना है कि भारत में मलेरिया से मरने वालों की संख्या दब जाती है। इस संस्था के अनुसार सन 2014 में भारत में मलेरिया से लगभग 2 लाख मौतें हुई थी। पूरी दुनिया के पैमाने पर यह आँकड़ा लगभग 8 लाख लोगों का है

भारत के कार्यक्रम-नेशनल वैक्टर बॉर्न डिजीज प्रोग्राम के अनुसार भारत सरकार भले ही कुछ भी दावे करे लेकिन हर आठ भारतीयों में से एक के मलेरिया की चपेट में आने की सम्भावना है और केवल 11 फीसदी आबादी को ही मलेरिया से पूरी तरह मुक्त माना जा सकता है। सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा के शोधों के अनुसार देश में लगभग

13 करोड़ लोगों में मलेरिया के लक्षण दिखायी दिये हैं।

सरकार ने देश को मलेरिया मुक्त करने का लक्ष्य बढ़ाकर सन 2030 तक कर दिया है। विश्व स्वास्थ्य संगठन का मानना है कि 2030 तक इस लक्ष्य को पाने के लिए भारत सरकार को इस मद में खर्च होने वाली रकम बढ़ाकर तीन गुना करनी पड़ेगी।

सरकारों की प्राथमिकताओं को देखते हुए लगता है कि वह रकम को बढ़ाने के बजाय कम कर सकती हैं क्योंकि स्वास्थ्य सेवाओं पर होने वाला खर्च लगातार घटाया जा रहा है। इसके अलावा 2014 के आँकड़ों के अध्ययन से पता चलता है कि मलेरिया उन्मूलन के लिए खर्च की गयी कुल रकम की 90 फीसदी प्रशासनिक कामों में खर्च हुई और मात्र 10 फीसदी रकम ही वास्तविक रूप से उन्मूलन के काम में लगी। इसमें भी कई अनियमितताएँ पायी गयीं।

भारत से बहुत पीछे माने जाने वाले श्रीलंका और मालदीव जैसे छोटे एशियाई देश काफी पहले ही अपने देश को मलेरिया मुक्त कर चुके हैं। श्रीलंका में मलेरिया का आखरी मामला सन 2012 में सामने आया था।

एक देश लड़ाकू जहाज, मिसाइलें, परमाणु रियेक्टर खरीदने पर अपना ज्यादातर बजट खर्च करता है, एक देश अपने नागरिकों के लिए अच्छे भोजन, अच्छी सेहत पर ज्यादा खर्च करता है, आप कौन से देश को ज्यादा पसन्द करेंगे?



आजादी

-अरुंधती रॉय

कश्मीर की जनता ने एक बार फिर स्पष्ट कर दिया जैसा कि वह साल दर साल, दशक दर दशक, कब्र दर कब्र स्पष्ट करती आयी है कि वे जो चाहती है वह है आजादी। (दरअसल 'जनमत' से अर्थ उन लोगों से नहीं है जिन्होंने आर्मी की राइफलों के साये में हुए चुनावों में जीत दर्ज की, इसका अर्थ उन नेताओं से नहीं जो अपने घरों में छिप जाया करते हैं और आज के जोखिम भरे समय में बाहर नहीं निकलते।)

जब हम सुरक्षा बलों द्वारा निहत्ते प्रदर्शनकारियों पर बन्दूकें तानने, पुलिसवालों द्वारा एम्बुलेंस और अस्पताओं पर हमला करने और पैलेट गन से किशोरों को अन्धा कर देने की निन्दा करते हैं (और हमें करनी भी चाहिए) तो हमें इस बात को ध्यान में रखना होगा कि असली बहस महज कश्मीर घाटी में भारतीय सुरक्षा बलों द्वारा मानवाधिकारों के उल्लंघन तक ही सीमित नहीं हो सकती। भले ही यह सुनने में बड़ा भयानक लगे लेकिन ये हिंसा तो आजादी के संघर्ष के सैन्य दमन का परिणाम है। एक अनिवार्य और अपरिहार्य परिणाम। कश्मीरी कानून का राज स्थापित करने या मानवाधिकारों के उल्लंघन को खत्म करने के लिए नहीं लड़ रहे हैं। वे आजादी के लिए लड़ रहे हैं। और इसके लिए वे बुलेट का मुकाबला पत्थरों से करने को तैयार हैं। इसके लिए वे अपनी कई जानें कुर्बान करने को तैयार हैं। इसके लिए वे नाफरमानी का खुला प्रदर्शन करने को तैयार हैं जो दुनिया के इस सबसे घने

मिलिट्री जोन में उनकी मौत या कैद का कारण बन सकता है। इसके लिए वे हथियार उठाने और ये अच्छी तरह से जानते हुए भी मौत तक संघर्ष करने को तैयार हैं कि वे भरी जवानी में मर जायेंगे। लगातार त्रासदी के जरिये वे इसे साबित कर चुके हैं। अगर वे इसे जारी नहीं रखेंगे तो वे कुछ भी नहीं होंगे।

ऐसा ढोंग करने का कोई फायदा नहीं जैसा भारत सरकार अपनी तरफ से कर रही है कि यह कानून और व्यवस्था का क्षणिक मामला है जिसे कुछ दुलमुल-यकीन और मनबढ़ लोग समय-समय पर बिगाड़ते रहते हैं। जो कुछ हो रहा है वह एक ऐसे क्षेत्र में बहुत भयानक और बेकाबू होते जा रहे हालात का पेचीदा संकट है जो दो परमाणु शक्तिसम्पन्न विरोधियों के बीच पिस रहा है। और महज इसी एक कारण से पूरी दुनिया को इसकी चिंता करनी चाहिए।

अगर हम वास्तव में इस संकट से निजात चाहते हैं, अगर हम वास्तव में हत्याओं और मौतों के इस अंतहीन चक्र को रोकना चाहते हैं, अगर हम वास्तव में खून बहने को रोकना चाहते हैं तो पहला कदम होगा कि इमानदारी के साथ थोड़ी सी रियायत दी जाय। हमें नेकनीयती से संवाद कायम करना होगा। भले ही फिर कितने भी भिन्न विचार हों, भले ही एक-दूसरे के विरोधी विचार हों। इस बातचीत का मुद्दा आजादी होना चाहिए। कश्मीरी के लिए आजादी के सही-सही क्या मायने हैं? इस पर क्यों चर्चा नहीं हो सकती? नक्शे कब

से पवित्र होने लगे? क्या जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार को किसी भी कीमत पर खारिज किया जा सकता है? क्या भारत की जनता अपनी अन्तरात्मा की आवाज पर हजारों सामान्य लोगों का खून बहाने के लिए तैयार है? किस नैतिक अधिकार से हम अपने सामने आ रही भयानक घटनाओं पर बात कर सकते हैं अगर हम इस भयावहता को निगल जाने को तैयार हैं? क्या कश्मीर के बारे में भारत की यह कल्पित आम सहमती असली है या इसे गढ़ा गया है? क्या इससे कुछ फर्क पड़ता है? सच्चाई तो ये है कि कुछ फर्क नहीं पड़ना चाहिए। फर्क इस बात से पड़ता है कि कश्मीरी क्या चाहते हैं, और सबसे शान्तिपूर्ण, जनवादी और ज्ञात तरीकों से इस आम सहमती पर पहुँचना कैसे सम्भव होगा।

अगर इस खौफनाक और अंतहीन दिखती त्रासदी का कोई हल है तो यही है कि हमें स्पष्ट सोचने, मुक्तभाव से बोलने और उन बातों को बेखौफ होकर सुनने में समर्थ होना होगा जिन्हें शायद हम सुनना नहीं चाहते। हमें एक नयी कल्पना की तलाश करनी होगी। यह विवाद के सभी पक्षों पर, हर किसी के लिए लागू होता है।

इससे हम कोई खूबसूरत चीज पा सकते हैं। क्यों नहीं? आखिर कब तक नहीं?

(आउटलुक, 25 जुलाई 2016 से साभार, अनुवाद : पारिजात)



2 सितम्बर की आम हड़ताल मेहनतकशों का बढ़ता आक्रोश

-अमरपाल

2 सितम्बर की आम हड़ताल भारत के इतिहास की सबसे बड़ी हड़ताल थी। हड़ताल में लगभग 18 करोड़ मजदूरों ने हिस्सा लिया। यह संख्या ब्रिटेन, कनाडा और आस्ट्रेलिया की कुल आबादी से भी ज्यादा है। जब से भारत में वैश्वीकरण की बयार बह रही है, यह 17वीं आम हड़ताल है। हड़ताल की केन्द्रीय माँग थी, न्यूनतम मजदूरी में बढ़ोतरी और श्रम कानूनों में किये गये सुधारों को रद्द करना।

मजदूरों की समस्याओं पर विचार करने के लिए सरकार ने अन्तरमन्त्रीय समूह 'आइएमजी' का गठन किया। वित्तमन्त्री इसके चेयरमैन हैं। ट्रेड यूनियनों का साझा संगठन, इंडियन लेबर कॉन्फ्रेंस लगातार इस समूह से मजदूर प्रतिनिधियों के साथ बात करने की माँग करता रहा, लेकिन समूह ने इनसे कोई बात नहीं की। ट्रेड यूनियनों काफ़ी समय से अपनी 12 सूत्री माँगों पर ध्यान देने की सरकार से गुजारिश करती रहीं, इनमें न्यूनतम मजदूरी बढ़ाकर 18,000 रुपये करने की माँग भी शामिल थी, लेकिन इस दौरान सरकार की तमाम घोषणाएँ मजदूरों के खिलाफ ही आयीं। ट्रेड यूनियनों जब हड़ताल की तैयारी करने लगीं तो मन्त्रीय समूह ने फूट डालने के इरादे से आनन-फानन में केवल आरएसएस की ट्रेड यूनियन "भारतीय मजदूर संघ के प्रतिनिधियों से बात की और गैर कृषि अकुशल मजदूरों की न्यूनतम दैनिक मजदूरी बढ़ाकर 350 रुपये और न्यूनतम मासिक

मजदूरी 9,100 रुपये करने की घोषणा की। भारतीय मजदूर संघ ने इसे मजदूरों की जीत बताया और हड़ताल का विरोध करके 2 सितम्बर को "विजय जुलूस" निकालने का आह्वान किया।

ज्यों-ज्यों हड़ताल का दिन नजदीक आता गया, शासक वर्गों के विचारकों और मीडिया ने हड़ताल से देश को होने वाले नुकसान की तफसीलें बयान करनी शुरू कर दी। इनमें मजदूरों की राष्ट्र-विरोधी, विकास विरोधी खलनायक छवि बनायी गयी। हड़ताल के अगले दिन मीडिया ने या तो हड़ताल को 'ब्लैक आउट' कर दिया या हड़ताल के विरोध में अनाप-सनाप बातें लिखीं।

मजदूरों की सबसे पहली माँग थी कि सरकार महँगाई को कारगर तरीके से कम करे, सार्वजनिक वितरण प्रणाली को ज्यादा व्यापक और प्रभावी बनाया जाये और उपभोक्ता सामानों खासकर खाद्य-पदार्थों में सट्टेबाजी पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाया जाये। सभी जानते हैं कि पिछले दो वर्षों में महँगाई में बढ़ोतरी ने मेहनतकश जनता की कमर तोड़ दी है।

मजदूरों की दूसरी माँग थी कि सरकार ठोस आधारों पर रोजगार सृजन करे। आर्थिक उदारीकरण के पिछले 25 सालों में बेरोजगारी तेजी से बढ़ी है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के आँकड़ों के आधार पर रोजगारों में सालाना वृद्धि मात्र 10 लाख है जबकि हर साल 550 लाख लोग नयी श्रमशक्ति के रूप में बाजार में आते हैं। यह रोजगार की नहीं

बेरोजगारी की अर्थव्यवस्था है, जो मात्र 10 लाख को रोजगार देती है और 540 लाख को बेरोजगार रखती है।

मजदूरों की एक माँग थी सरकारी उपक्रमों के विनिवेश पर रोक। सरकार ने इस साल भी 56,500 करोड़ कीमत के सार्वजनिक उपक्रम बेचने का लक्ष्य रखा है। मजदूरों का कहना है कि दूसरे तमाम नुकसानों से अलग विनिवेश देश की अर्थव्यवस्था की नींव हिला चुका है और इसने "निजी एकाधिकार पूँजी" को मजबूत किया है। उन्होंने रेलवे और रक्षा जैसे महत्वपूर्ण रणनीतिक क्षेत्रों में विदेशी पूँजी निवेश को बढ़ावा देने का विरोध किया है।

मजदूरों की दो केन्द्रीय माँगों में से एक, बुनियादी श्रम कानूनों से छेड़छाड़ न करने और उन्हें कड़ाई से लागू करने की है। आजादी की 69वीं वर्षगाँठ पर प्रधानमन्त्री ने मजदूरों के हकों और स्वाभिमान पर लम्बा-चौड़ा भाषण देते हुए 'सत्यमेव जयते' की तर्ज पर 'श्रमेव जयते' का नारा दिया था। लेकिन इन्हीं की अगुवाई वाली सरकार ने फैक्टरी अधिनियम में मजदूर हितों के खिलाफ शर्तें जोड़ी। श्रम दिवस को बढ़ाकर 12 घण्टे करने की मंजूरी सरकार दे चुकी है। 'ओवर टाइम' को 50 घण्टे से बढ़ाकर 125 घण्टे किया जा चुका है। नये संसोधनों से कारखाना मालिक को अधिकार मिल गया है कि वह महिलाओं से रात में भी काम करा सकता है। नये नियम में सरकार ने 40 से कम मजदूरों वाले कारखानों को श्रमकानूनों

के दायरे से बाहर कर दिया है। इसका सीधा अर्थ है कि इन कारखानों में काम करने वाले, देश के कुल मजदूरों के 40 फीसदी हिस्से को अधिकारिक रूप से श्रम कानूनों के सुरक्षा घेरे से बाहर धकेल दिया है।

मजदूरों की दूसरी केन्द्रीय माँग अकुशल श्रमिकों के लिए न्यूनतम मजदूरी 18,000 रुपये प्रतिमाह करने और 3,000 रुपये महीना पेंशन देने की है। मजदूरी की दर तय करने वाला न्यूनतम मजदूरी अधिनियम भारत के संविधान से भी पहले 1948 में बनाया गया था। पूँजीपति मजदूरों के लिए साफ आवास, पोषक भोजन, शिक्षा और स्वास्थ्य सेवा मुहैया कराने तथा बन्धुआ मजदूरी व कर्ज से मुक्ती दिलाने की जिम्मेदारी पूरा करने के सख्त खिलाफ थे। इसीलिए उनके दूरदर्शी नेताओं ने अपने वर्ग को आत्मविनाश से बचाने के लिए न्यूनतम मजदूरी अधिनियम बनाया था।

उचित मजदूरी के लिए गठित (1948) त्रिपक्षीय कमिटी ने मजदूरी के तीन स्तरों की सलाह दी थी, जीविका निर्वाहन मजदूरी, उचित मजदूरी और न्यूनतम मजदूरी। इनमें सबसे निकृष्ट 'न्यूनतम मजदूरी' को पूँजीपतियों ने स्वीकार किया था। इसे नियोक्ता के लिए कानूनी रूप से बाध्यकारी माना गया था और इसके निर्धारण का तरीका सुनिश्चित किया गया था। माना गया कि न्यूनतम मजदूरी कम से कम तीन लोगों की जीविका के लिए पर्याप्त हो। प्रतिव्यक्ति प्रतिदिन 2700 कैलोरी भोजन की जरूरत को पूरा करे। सालाना 72 गज कपड़े की जरूरत को पूरा करे। क्षेत्र के अनुसार कमरे के किराये की पूर्ती करे। इसका 20 फीसदी हिस्सा ईंधन व बिजली जैसी ऊर्जा जरूरतों के लिए पर्याप्त हो। 1991 में सर्वोच्च न्यायालय ने अलग से 25 फीसदी हिस्सा बच्चों की शिक्षा और स्वास्थ्य सम्बन्धी जरूरतों के लिए जोड़ने का आदेश दिया। इस हिसाब से न्यूनतम मजदूरी आज 26,000 रुपये प्रतिमाह बैठती

है। इतनी ही माँग केन्द्रीय कर्मचारियों ने 7वें वेतन आयोग से की थी लेकिन उनकी माँग भी अस्वीकार कर दी गयी और इसकी जगह न्यूनतम वेतन 18,000 रुपये प्रतिमाह निर्धारित किया गया।

आजाद भारत के इतिहास में, इन तमाम कानूनों को केवल कागज की स्याही मात्र मानकर, कभी भी पूरी तरह लागू नहीं किया गया। आज तो यह हालत हो गयी है कि संविधान की मूल भावनाओं में से एक समान काम के लिए समान वेतन को भी पूरी तरह नकारते हुए ठेका मजदूरों से मनमानी मजदूरी पर काम कराया जा रहा है। पूरे देश में न्यूनतम मजदूरी का औसत घटकर 4,800 रुपये प्रतिमाह पहुँच चुका है जो निश्चय ही तीन लोगों के भरपेट भोजन के लिए भी पर्याप्त नहीं है।

तमाम तथ्यों और अपने अनुभव से कोई भी देख सकता है कि मेहकशों को पीछे धकेलते-धकेलते दीवार से सटा दिया गया है। उनके और पीछे हटने की गुंजाईश खत्म हो चुकी है। इस हालात में विरोध करने का एक दिन की हड़ताल से सालीन कोई तरीका नहीं हो सकता। यह देश-दुनिया के मजदूर आन्दोलन का दुर्भाग्य है कि जब उसे व्यवस्था के पूर्ण विध्वंस और नयी व्यवस्था के निर्माण का संघर्ष शुरू करना चाहिए तब वे केवल जिन्दा रहने भर की मजदूरी माँग रहे हैं और शासक वर्ग उन्हें यह भी देने को तैयार नहीं।

शासक वर्गों और मेहनतकश वर्गों का अन्तरविरोध काफी पहले ही उस मंजिल से आगे पहुँच चुका है कि मौजूदा व्यवस्था को नष्ट हो जाना चाहिए। शासक खुद ही अपने एक-एक दिन के जीवन के लिए धिनौने से धिनौने छल-प्रपंच कर रहे हैं और 'कुरामिन' का इंजेक्शन ले-लेकर किसी तरह जिन्दा हैं। तमाम जनता को नंदित नर्क में धकेल कर अपने लिए एक-एक साँस का जुगाड़ कर रहे हैं। भला यह कैसे सम्भव है कि उनका रहनुमा पूरी दुनिया में

'मेक इन इंडिया' और 'भारत में सस्ती मजदूरी' का ढोल भी पीटता फिरे और दूसरी ओर 'श्रमेव जयते' का नारा भी दे।

मौजूदा व्यवस्था हर साल 540 लाख बेरोजगारों की नयी फौज पैदा कर रही है। यह फौज शासकों को मेहनतकशों का बर्बरतम शोषण करने उनको कम से कम मजदूरी पर गुलामों की तरह खटाने की छूट देती है, लेकिन हर क्षण इस व्यवस्था के विनाश के सामान भी तैयार करती है। इससे बचने का एक मात्र तरीका है कृषि और उद्योगों का तीव्र विकास करके इस अतिरिक्त श्रम को उत्पादन करने में लगाना। लेकिन सरकार के ही आँकड़े बताते हैं कि इन दोनों क्षेत्रों का सकल घरेलू उत्पाद में हिस्सा लगातार घट रहा है। इनकी कीमत पर सट्टेबाजी और सेवा क्षेत्रों में तीव्र 'कैंसरनुमा बढोतरी' हुई है। पहले दोनों क्षेत्र भयावह मंदी के शिकार हैं और बाद के दोनों क्षेत्रों में बेलगाम मुनाफा है। क्या किसी पार्टी की सरकार में इतना दम है कि भारत की जनता के लिए अभिशाप बन चुकी इस विषम विकास की धारा को मोड़ दे।

पिछले 25 सालों में देश में जो भी विदेशी पूँजी आयी है उसका बड़ा हिस्सा अप्रत्यक्ष विदेशी निवेश के रूप में आया है और इस पूँजी का भी बड़ा हिस्सा पहले से मौजूद सार्वजनिक और निजी उद्यमों में हिस्सेदारी खरीदने पर खर्च हुआ है। नाममात्र का हिस्सा ही नये उद्योग लगाने पर खर्च हुआ है। इसका परिणाम भी देशी उद्योगों के उजड़ने के चलते रोजगार बढ़ाने के बजाय बेरोजगारी बढ़ाने वाला रहा है। वैश्वीकरण जहाँ भी गया है इसने वहाँ लोगों की जीविकाओं को उजाड़ा है, यह तथ्य भारत समेत पूरी दुनिया के लिए सच है। भारत के शासक वैश्वीकरण का विरोध नहीं कर सकते, क्योंकि यह उनकी सोची-समझी रणनीति है।

वैश्वीकरण ने मेहनतकश वर्ग के लिए भले ही नरक के दरवाजे खोले हों लेकिन शासकों के लिए स्वर्ग का निर्माण किया है। वैश्वीकरण के 25 सालों में ही

पूँजीपतियों पर लगने वाले तमाम करों को घटाकर नाम मात्र का कर दिया गया है। पूँजीपतियों के लिए तमाम बन्धनों को समाप्त कर दिया गया है। खुद अम्बानी का 135 देशों में और टाटा का 115 से ज्यादा देशों में कारोबार है। सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियाँ, बिजली, पानी, जंगल, जमीन, खाद्यान, पहाड़, नदियाँ, स्पेक्ट्रम जैसी तमाम सार्वजनिक चीजें मिट्टी के मोल देशी-विदेशी पूँजीपतियों को बेची गयी हैं। संसद पर करोड़पतियों का प्रत्यक्ष कब्जा हुआ है। इन्हीं सालों में उनको 90 लाख करोड़ के घोटाले करने का मौका मिला है। शिक्षा, इलाज जैसे सामाजिक सेवा के तमाम क्षेत्र उनके मुनाफे के लिए खोल दिये गये हैं। डाकेजनी की इस खुली छूट की सूची बेहद लम्बी है।

इस सबके बावजूद पूँजीपति दिवालिया होकर देश छोड़कर भाग रहे हैं, सहारा का मालिक जेल में पड़ा है। टाटा, अम्बानी जैसों की कम्पनियाँ बैंकों का लाखों करोड़ का कर्ज डकार चुकी हैं। सरकार के खजाने में अब कर्ज पत्रों के अलावा कुछ नहीं बचा है। 600 अरब डॉलर के जिस भण्डार को सरकार अपना विदेशी मुद्रा भण्डार बता रही है वह विदेशी कर्ज है। ये जिस दिन वैश्वीकरण को 'ना' कहेंगे उस दिन दिवालिया हो जायेंगे। इनके लिए वह दिन उससे भी बुरा होगा, जब चन्द्रशेखर सरकार ने 40 टन सोना बैंक ऑफ इंग्लैण्ड में गिरवी रखकर खर्चा चलाया था।

देशी-विदेशी पूँजीपतियों का यह गठजोड़ संचित सम्पदा को तो बहुत पहले ही पी चुका है, आज यह मेहनतकशों की रगों से एक-एक बूँद लहू पीकर अपनी उम्र बढ़ा रहा है। इस गठबन्धन पर निर्णायक चोट ही मेहनतकशों की मुक्ति का द्वार खोलेगी। इस निर्णायक चोट के लिए मेहनतकश वर्ग के विचारक और नेता अपने वर्ग को किस स्तर तक तैयार करते हैं, इसी पर आम हड़ताल और अगली लड़ाइयों का परिणाम तथा भारत की जनता का भविष्य निर्भर है। ○

बैंक कर्ज मारने वाले सरमायेदारों के लिए लाखों करोड़ की सबसिडी

अप्रत्यक्ष करों में लगातार वृद्धि करके और रेल किराया, बिजली-पानी, पेट्रोल-डीजल, आदि के दाम बढ़ाकर सरकार जो पैसा जनता से इकट्ठा कर रही है, उससे सरमायादारों द्वारा डकार लिये गये बैंक कर्ज को निपटाने की स्कीम लागू कर रही है, ताकि उन्हें दुबारा नये कर्ज देकर फिर से लूटने का मौका दिया जा सके।

एस्सार ऑयल का सौदा उसकी एक बानगी भर है। पहले सरकारी कम्पनियाँ रूसी कम्पनी में पैसा लगाती हैं और फिर वही रूसी कम्पनी भारी कर्ज में दबे रुइया परिवार से एस्सार को महँगी कीमत पर खरीद लेती है। और यह सारा सौदा मोदी सरकार खुद करवाती है! शेयर बाजार और भाँड मीडिया खुशी से उछल रहे हैं— तो इस तरह पूरा किया जायेगा बैंकों के बुडन्त खाते का घाटा!

दूसरी योजना - सरकार का बुरे बैंक का जो प्रस्ताव रघुराम राजन ने अस्वीकार किया था, उसे अहसान की 'ऊर्जा' से भरे नये गवर्नर उर्जित पटेल ने मंजूर कर लिया है! इसके अन्तर्गत सभी बड़े और बुरे कर्ज सरकारी बैंकों से नये बुरे बैंक को ट्रांसफर कर दिये जायेंगे। सरकारी बैंकों का लेन-देन खाता 'स्वच्छ' हो जायेगा और फिर से इन्हीं लुटेरे कर्जदारों द्वारा खड़ी की गयी नयी कम्पनियों को कर्ज देने का सिलसिला चालू हो जायेगा। बाद में इस बुरे बैंक की जिम्मेदारी सरकारी खजाने, यानी मेहनतकश जनता के टैक्स से निपटायी जायेगी।

तीसरा तरीका है ब्याज दरें घटाना। आईआईसीआई बैंक के पूर्व प्रमुख कामत के अनुसार ब्याज दर में 0.25 प्रतिशत की कमी से बैंकों को ढाई हजार करोड़ रुपये का फायदा होगा। जमा की ब्याज दरों में कमी से मध्य, निम्न-मध्य वर्ग द्वारा रिटायरमेंट आदि के लिए बचाये धन की कीमत कम होगी, जबकि कर्ज दरों में कमी से कॉरपोरेट पर ब्याज का खर्च कम होगा। दूसरी ओर, कोई भी बैंक कर्ज की दरों में कमी का फायदा मध्य वर्ग को मकान, कार आदि कर्जों पर देने के लिए तैयार नहीं हैं— एक तो इन कर्जों की ब्याज दरों में कमी न सिर्फ जमा दरों में कमी की आधी है, बल्कि कमी सिर्फ नये लिये जाने वाले कर्ज पर ही की गयी है, पहले से जारी कर्जों पर पुरानी ब्याज दरें ही लागू हैं।

यह एक संकट से दूसरे संकट में घिर रहे बीमार और सड़े-गले पूँजीवाद का जमाना है, इसमें प्रतियोगिता, नियम-कायदे, न्याय, ईमानदारी, राज्य और निजी पूँजी में दिखावटी भेद जैसी तमाम बातों के लिए कोई जगह नहीं। अब राज्य के सारे अंग सभी नियम-कानून, संविधान और नैतिकता के दिखावटी आवरण को भी उतार कर, नग्न रूप में मालिकों की सेवा में लग गये हैं। उनके लिए हर तरह की अन्यायपूर्ण लूट का इंतजाम करना ही उनका नया 'पवित्र' कर्तव्य है। ○

जीएसटी और अन्य टैक्स नीतियाँ गरीब की जेब पर हमला

-मुकेश त्यागी

कारोबारी तबके में खुशी की लहर दौड़ गयी है, आखिर भाजपा, कांग्रेस व अन्य सारी पार्टियों ने मिलकर जीएसटी कानून पास जो कर दिया है। पिछले कुछ सालों से बड़ी चर्चा है इस जीएसटी की। सारा पूँजीवादी प्रचार तंत्र और उसके अर्थशास्त्री ऐसा शर्माँ बाँधने की कोशिश कर रहे हैं कि जीएसटी लागू होने से अर्थव्यवस्था में बड़ी तेजी आयेगी, कारोबार में तरक्की होगी और रोजगार के मौके बढ़ेंगे। सवाल उठाना लाजिमी है कि आखिर इस जीएसटी में ऐसा क्या है कि पूरा पूँजीवादी तंत्र इसके लिए एक राय होकर इतना उतावला है और इसका मेहनतकश तबके के जीवन पर क्या असर होगा? इस दृष्टिकोण से इसका अध्ययन-विश्लेषण किया जाना बहुत जरूरी है।

जीएसटी लागू करने और इसके असर को समझने के लिए पहले हमें पूँजीवादी समाज में टैक्स नीति के कुछ मूल बिन्दुओं को समझना होगा। निजी सम्पत्ति पर आधारित पूँजीवादी व्यवस्था में राजसत्ता के खर्च को चलाने के लिए उत्पादन, आय, सम्पत्ति, व्यापार, आदि पर कर लगाना शासन व्यवस्था का एक आवश्यक अंग है। लेकिन यह सिद्धान्त भी बुर्जुआ मानवतावादी जनतांत्रिक चिन्तन की ही उपज था कि एक प्रगतिशील तथा क्रमिक (Progressive) कर प्रणाली होनी चाहिए। इसका अर्थ है कि कर की दर आमदनी/सम्पत्ति के बढ़ने के क्रम में बढ़नी चाहिए। लेकिन यह विचार 20वीं सदी में मजबूत मेहनतकश

आन्दोलनों के डर से ही कुछ हद तक लागू हो पाया था। क्रमिक कराधान नीति के अनुसार व्यक्तिगत आयकर की दरें आमदनी के बढ़ते क्रम में होनी चाहिए और कॉरपोरेट कर भी इसके अनुरूप हो। साथ ही बड़ी सम्पत्ति पर सम्पत्ति कर और उसके उत्तराधिकार पर एस्टेट ड्यूटी भी लगायी गयी। यह कर प्रणाली पूँजीवादी व्यवस्था में शोषण से मुक्ति तो नहीं पर मेहनतकश लोगों को कुछ तात्कालिक राहत प्रदान करती थी।

लेकिन जैसे ही मेहनतकश जनता के आन्दोलन अपने भटकावों की वजह से कमजोर पड़े और पूँजीवादी व्यवस्था का संकट और तेज हुआ, बाकी देशों की तरह भारत में भी शासक वर्ग ने इस क्रमिक कर प्रणाली को बदलना शुरू कर दिया। लगातार परजीवी बनते पूँजीपति वर्ग ने नयी नीति अपनायी। करों का बोझ खुद से कम कर ज्यादा से ज्यादा पहले से ही शोषित मजदूर, किसान, निम्न मध्य वर्गीय लोगों पर डालने की नीति। इसके लिए आयकर/कॉरपोरेट कर की उच्चतम दरों को तो जाहिर है कम किया ही गया लेकिन और भी सूक्ष्म/जटिल कदम उठाये गये जो आम जनता को सीधे नजर न आयें लेकिन कर का बोझ अमीर तबके से कम कर गरीब लोगों के सिर पर डाल दें। इन उपायों की विस्तृत चर्चा आगे है।

आय के कई स्रोत हैं। हालाँकि मेहनतकश लोगों के लिए तो उनकी मजदूरी या छोटे-मोटे काम-धंधे से होने वाली बचत ही आय का मुख्य स्रोत है लेकिन जैसे-जैसे

उच्च आय वर्ग की तरफ बढ़ते हैं उनकी आय में वेतन का हिस्सा बहुत कम रह जाता है और उनकी ज्यादातर आय आती है ब्याज, लाभांश और पूँजीगत लाभ से। ब्याज हम जानते हैं, लाभांश का मतलब है व्यवसाय के मुनाफे में पूँजी के मालिकों को मिलने वाला हिस्सा और पूँजीगत लाभ का मतलब है किसी सम्पत्ति (जमीन, मकान, शेयर, बॉन्ड्स), आदि की कीमत में होने वाली बढ़त से मिलने वाला लाभ। तो चालाकी से परिवर्तन यह किया गया कि आय के इन स्रोतों पर वेतन आदि जैसी आयकर की सामान्य दरें लागू करने के बजाय कम दरें लागू की गयीं। जैसे लाभांश पर बहुत साल से शून्य आयकर था; अब 10 लाख से ऊपर वाली रकम पर दोबारा लगाया गया लेकिन सामान्य 30 प्रतिशत के बाजाय सिर्फ 10 प्रतिशत। इसी प्रकार पूँजीगत लाभ पर शून्य, 5, 10 या 20 प्रतिशत की दरें हैं (20 प्रतिशत की दर के साथ उसे कम करने के लिए सूचीकरण का उपाय भी साथ ही है)। साथ ही सम्पत्ति कर और एस्टेट ड्यूटी तो समाप्त ही कर दी गयी है। इसका नतीजा है कि जहाँ हमें बताया जाता है कि अमीर लोगों पर 30 प्रतिशत का आयकर है वहाँ असल में सबसे अमीर लोगों को आपनी आय का लगभग मात्र 10-15 प्रतिशत ही टैक्स देना होता है, वह भी अगर चोरी न करें तो! अगर कम्पनियों की बात करें तो इस बार के बजट में सरकार ने खुद बताया है कि घोषित 30 प्रतिशत की दर के बजाय सबसे

बड़ी कम्पनियाँ सिर्फ 21 प्रतिशत की दर से ही कॉर्पोरेट टैक्स का भुगतान करती हैं।

अब बात करें गरीब मेहनतकश जनता पर लगने वाले करों की। कुछ लोग आश्चर्य करेंगे कि क्या गरीब लोग भी टैक्स देते हैं! ऐसा एक दुष्प्रचार समाज में खड़ा किया गया है कि सिर्फ 4 प्रतिशत लोग ही टैक्स देते हैं और गरीब लोग सिर्फ सरकार से सबसिडी पाते हैं। लेकिन यह सच नहीं है देश के सब लोग टैक्स देते हैं, गरीब से गरीब मजदूर भी। असल में ऊपर जिन करों की बात हमने की वह हैं प्रत्यक्ष कर यानी जिस पर टैक्स लगा उसने दिया। दूसरे किस्म के कर हैं अप्रत्यक्ष कर जो लगते कम्पनियों/व्यापारियों पर हैं लेकिन जिनको आखिर देना आम नागरिक है क्योंकि वस्तुओं-सेवाओं की कीमतों में इन्हें शामिल कर लिया जाता है! यह है सेल्स, वैट, एक्साइज, कस्टम्स, सर्विस टैक्स, चुंगी, आदि। तथाकथित आर्थिक सुधारों का एक पहलू इस प्रकार के अप्रत्यक्ष करों को लगाना और बढ़ाना है। कुछ साल पहले 8 प्रतिशत से शुरू हुआ सर्विस टैक्स देखते-देखते 15 प्रतिशत पहुँच चुका है।

असल में प्रत्यक्ष कर जैसे आयकर, सम्पत्ति कर, विरासत कर, आदि आमदनी के हिसाब से लगते हैं यानी जिसकी आमदनी ज्यादा, उस पर कर भी ज्यादा। इसलिए इन करों को प्रगतिशील कर माना जाता है। इसके विपरीत अप्रत्यक्ष कर जैसे सर्विस टैक्स, एक्साइज, वैट, जीएसटी आदि की दर अमीर-गरीब सबके लिए समान होती है। लेकिन खर्च पर लगने की वजह से, टैक्स की दर अगर समान है और इसे आमदनी के हिस्से के तौर पर देखा जाये तो जिसकी आमदनी जितनी कम होगी उसे आमदनी का उतना ही ज्यादा प्रतिशत हिस्सा टैक्स के तौर पर अदा करना पड़ता है, यानी इनका बोझ गरीब लोगों पर ज्यादा पड़ता है। इसलिए इन्हें प्रतिगामी टैक्स माना जाता है।

तीसरा पहलू है कर प्रणाली और सामान्य अर्थव्यवस्था में ऐसे नियम बनाना

जिससे पूँजीपति अपनी आमदनी/दौलत के एक बड़े हिस्से को देश के बाहर ले जा सकें और कोई टैक्स भी न चुकाएँ। अगर वोडाफोन के मामले पर ध्यान दें तो पहले हच नाम की कम्पनी भारत में अपना मोबाइल कारोबार चलाती थी। फिर उसने यह कारोबार वोडाफोन को बेच दिया लेकिन भारत में स्थित सम्पत्ति की खरीद-बिक्री का यह काम हांगकांग में कर लिया गया और इस तरह लगभग 9,000 करोड़ रुपये का टैक्स बचा लिया गया। ऐसे ही अन्य बहुत से मामले हैं। भारत में कारोबार करने या सम्पत्ति रखने बहुत सारे लोग खुद को दूसरे देशों का निवासी/नागरिक घोषित कर यहाँ शून्य या बहुत कम टैक्स अदा करते हैं।

अब इस परिस्थिति में देखते हैं जीएसटी को। ऊपर बताये गये अप्रत्यक्ष करों (सेल्स, सर्विस, एक्साइज, चुंगी, वैट, आदि) को मिलाकर अब एक नया कर जीएसटी लगाने का प्रस्ताव है। जीएसटी का एक मकसद तो है पूरे देश के पैमाने पर एक ही टैक्स व्यवस्था लागू करना। इससे पूरे देश में कारोबार करने वाली कम्पनियों को टैक्स के हिसाब व कागजी कार्रवाई में सहूलियत होगी। दूसरे, अभी सभी राज्यों में अलग नियम व कर दरें होने से बड़ी कम्पनियों को विभिन्न राज्यों के बाजार में कारोबार के लिए स्थानीय कारोबारियों के साथ अलग-अलग तरीके से प्रतियोगिता के लिए तैयार होना पड़ता है। जीएसटी लागू होने से पूरे देश का बाजार अब एक ही नियम से संचालित होगा और बड़े पूँजीपतियों के लिए इस एकीकृत बाजार में अपनी इजारेदारी/नियंत्रण स्थापित करना आसान हो जायेगा। आज बहुत सारी कम्पनियों को राज्यों के भिन्न टैक्स कानूनों के कारण राज्यवार अपने कारोबार को संचालित करना पड़ता है और कई मामलों में इस हिसाब से कुछ फैक्टरियाँ/गोदाम बनाने की भी जरूरत पड़ती है। जीएसटी लागू होने से यह जरूरत कम होगी और कुछ स्थानों से ही वह कुशलता से अपना कारोबार चला सकेंगी। कुछ स्थानों पर

केन्द्रीकृत बड़े कारखानों/गोदामों को चलाने के लिए कम मजदूरों/कर्मचारियों की जरूरत होगी और वह श्रमिकों के वेतन पर अपना खर्च कम करने की स्थिति में होंगी यानी और ज्यादा मुनाफा। यही वजह है कि फिक्की, ऐसोचैम, सीआईआई आदि पूँजीपतियों के संगठन इसके लिए सरकार और राजनीतिक दलों पर भारी दबाव बनाये हुए हैं।

जीएसटी का दूसरा पहलू है जनता पर इसका असर यानी ज्यादा से ज्यादा वस्तुओं और सेवाओं को करों के दायरे में लाना और इन करों की दर को ऊँचा करना। जब 2009 में जीएसटी कानून का पहला खाका बना था तब इसकी दर 12 प्रतिशत करने का प्रस्ताव था लेकिन अब स्थिति यह है कि शासक पार्टियाँ 18 प्रतिशत की ऊपरी सीमा रखने के लिए भी तैयार नहीं हैं। मतलब सबसे गरीब लोगों को अपनी आमदनी का 18 प्रतिशत टैक्स में देना पड़ेगा क्योंकि उन्हें तो अपनी मेहनत की कमाई को पूरा ही खर्च करना पड़ता है। अभी जीएसटी के लिए 18 से 22 प्रतिशत तक की दर की चर्चा सुनने में आ रही है यानी इसके लागू होने पर ज्यादातर वस्तुओं-सेवाओं पर इतना कर देना पड़ेगा। उदाहरण के लिए 100 रुपये का मोबाइल रिचार्ज कराने पर उसका 18 से 22 प्रतिशत प्रतिशत जीएसटी में जायेगा। नतीजा, और महँगाई। जिन देशों में पहले जीएसटी लागू हुआ है उनमें से ज्यादातर में इसके बाद मुद्रास्फीति/महँगाई में वृद्धि हुई है और भारत में यह मानने की कोई वजह नहीं कि ऐसा नहीं होगा।

तीसरी बात है कि जीएसटी की दर हालाँकि कहने के लिए सब पर बराबर होगी लेकिन इसका असर अमीर और गरीब लोगों पर बराबर नहीं होगा। जहाँ गरीब लोग अपनी सारी कमाई से किसी तरह जीवन चलाते हैं तो उनकी पूरी आय पर यह 18 से 22 प्रतिशत टैक्स लग जायेगा क्योंकि जीएसटी लगभग सभी वस्तुओं-सेवाओं पर लगेगा। वहीं क्योंकि अमीर तबका अपनी आय का एक छोटा

हिस्सा ही जीविका पर खर्च करता है तो आमदनी के हिस्से के रूप में देखा जाये तो वास्तव में गरीब मेहनतकश लोगों पर ज्यादा टैक्स और जितना अमीर उतना ही कम!

जीएसटी के समर्थन में मुख्य तर्क है कि इससे टैक्स व्यवस्था सरल होगी, उद्यमियों-व्यापारियों को एक ही टैक्स से उनका जीवन सुगम होगा और टैक्स प्रशासन की जटिल पद्धतियों के कम होने से भ्रष्टाचार कम होगा और नतीजन टैक्स चोरी कम होगी। लेकिन पिछला तजुर्बा कहता है कि ऐसे उपायों से धाँधली-चोरी-भ्रष्टाचार खत्म नहीं होता, बल्कि उसका भी कॉरपोरेटीकरण हो जाता है। धाँधली करने वाली कम्पनियाँ खड़ी हो जाती हैं जो छुटभैये चोरों को भर्ती कर बड़े पैमाने पर चोरी-भ्रष्टाचार कराती हैं। यानी साम्राज्यवाद के युग में अपराध भी इजारेदारी और बहुराष्ट्रीय आधार पर चलता है। असली बात तो यह है कि पूरी पूँजीवादी व्यवस्था ही श्रमिकों की मजदूरी के मूल्य की लूट से अधिकतम मुनाफा कमाने, पूँजी को बढ़ाते जाने की होड़, निजी सम्पत्ति को ज्यादा से ज्यादा बढ़ाने की नीति के आधार पर खड़ी है। चोरी और भ्रष्टाचार से अधिकाधिक मुनाफा ही इसकी मूल नैतिकता और धर्म है। तब इसमें किसी नियम-कायदे, तकनीक, पुलिस-लोकपाल, आदि से भ्रष्टाचार को रोकने की बात ही हास्यास्पद है। जब तक कुछ लोगों के पास असीम धन और बाकी कंगाल बने रहेंगे और समाज में स्थान बनाने का आधार सिर्फ धन की मात्रा रहेगी तब तक भ्रष्टाचार और लूट की प्रवृत्ति भी बनी रहेगी।

कोई भी योजना सब के लिए खराब या सब के लिए अच्छी नहीं होती। असल में जीएसटी से जो भी फायदा होने वाला है - हिसाब-किताब में आसानी, पूरे देश में एक सामान कर दर, आदि वह सब सिर्फ कारोबारी तबके के फायदे के लिए है जबकि इस सुधार का सारा बोझ पड़ने वाला है गरीब जनता पर! पूँजीपति तबके के लिए प्रत्यक्ष करों को कम करने का

काम तो पहले ही चल रहा था अब सारी जनता के ऊपर और अप्रत्यक्ष कर लादने का रास्ता भी साफ हो गया है। हम यहाँ समाजवादी नजरिये से नहीं बल्कि विशुद्ध पूँजीवादी आर्थिक सिद्धान्तों से ही देखें तो सभी विकसित पूँजीवादी देशों में भी कुल कर संग्रह का दो तिहाई प्रत्यक्ष करों से आता है और एक तिहाई अप्रत्यक्ष करों से। लेकिन भारत में पहले ही हालात यह हैं कि यहाँ प्रत्यक्ष करों से सिर्फ एक तिहाई कर वसूली होती है और अप्रत्यक्ष करों से दो तिहाई। इस बारे में कोई दो राय नहीं है कि उद्यमियों-व्यापारियों को जीएसटी का फायदा होगा इसलिए ये इसका समर्थन करते हैं। लेकिन अप्रत्यक्ष करों को बढ़ाने वाली कोई भी व्यवस्था गरीबों के लिए अच्छी नहीं-- भारत में तो पहले ही अप्रत्यक्ष करों की भारी मार है, जबकि अमीर लोगों को हर तरह के करों में छूट मिल रही है। ऐसी नीति को सिर्फ इस आधार पर प्रगतिशील कहना कि इससे व्यापारियों को सुविधा होगी, गलत है।

कुल मिलाकर देखा जाये तो जीएसटी समेत इन टैक्स नीतियों की दिशा है पूँजीपति वर्ग को करों के बोझ से जितना हो सके बचाना और पूँजीवादी राजसत्ता को सम्भालने का बोझ भी पहले से ही शोषित-पीड़ित मेहनतकश तबके पर डालना और उसकी पहले से ही सीमित आय में इस जरिये से और भी कटौती कर देना। इसका नतीजा होगा पूँजीपतियों के हाथ में धन और सम्पदा का और भी ज्यादा केन्द्रीकरण और मजदूर वर्ग की जिन्दगी में और भी ज्यादा तबाही। असल में आज की स्थिति में शासक पूँजीपति वर्ग की वर्तमान व्यवस्था के संचालन में भी सिर्फ एक ही भूमिका रह गयी है परजीवी जोंक की तरह सिर्फ खून चूसना। इसके सिवा उसका अन्य कोई योगदान नहीं है।



सर्जिकल स्ट्राइक के बाद नफरत और युद्धोन्माद पर एक अर्थपूर्ण टिप्पणी

हम रह लेंगे फवाद खान के बिना भी, कोई आफत नहीं आ रही (फिर यू ट्यूब तो है ही), चीनी सामान का भी बहिष्कार कर डालेंगे, इस मोल तो देशभक्ति काफी सस्ती है, पाकिस्तानी फेसबुकिया मित्रों को भी अमित्र कर देते हैं, पाकिस्तान को कठोर सबक मिल जायेगा?

बाकी अड़ोस-पड़ोस में ऐसे अंकल-आंटी खूब देखे जो आपस की लड़ाई में बच्चों को खेलने से मना कर देते हैं, उनकी मानसिक परिपक्वता पर हँसी आया करती थी।

यहाँ सीधे-सीधे तो सरकार कुछ नहीं कर रही, खुद न तो चीनी सामान के बहिष्कार का सरकारी फैसला कर रही है और न पाकिस्तानी कलाकारों के देश निकाले का। हाँ, अपनी मनमानी करवाने के लिए अप्रत्यक्ष रूप से जिस तरह की गुंडागर्दी को प्रश्रय दे रही है यह निस्सन्देह शासन का एक नायाब तरीका है।

में सचमुच देखना चाहती हूँ कि विदेशनीति और कूटनीति के स्तर पर विफल सरकार जनता के बीच इस जहर को घोलकर कौन-सा तीर मार लेगी। हाँ, विधान सभा चुनावों से पहले की सरगर्मी के लिहाज से यह कौतुक कुछ मुफीद ठहरे। यह तय है कि सरकार कल को फिर पाकिस्तान से दोस्ती का हाथ बढ़ायेगी और उसे डिप्लोमेसी कहेगी या समय की माँग या व्यापारिक दबाव या अमरीका का आदेश या अपने इन एने बेने तरीकों की सफलता, क्या कहकर, क्या मुँह लेकर दुबारा बात करने पर आयेगी, हम भी देखेंगे।

लेकिन इस बीच दोनों देशों की आम जनता के बीच जो खाइयाँ बनेंगी उन्हें भरने में जरूर कई दशक लग जायेंगे।

--कनुप्रिया

खैरलांजी के दस वर्ष

-आनन्द तेलतुमड़े

इस साल 29 सितम्बर को खैरलांजी में हुई जाति उत्पीड़न की घृणित घटना को दस साल हो जायेंगे। बदकिस्मती से उसी दिन 2006 में भैयालाल भूतमाँगे के पूरे परिवार- उनकी पत्नी सुरेखा भूतमाँगे (44), बेटी प्रियंका (17) बेटे रोशन (19) और सुधीर (21) को गाँव के स्वर्ण हिन्दुओं की भीड़ ने पीट-पीटकर मार डाला। कई कारणों से इस मामले को लेकर दलित बहुत देर से जागे लेकिन जब वे उठ खड़े हुए तो उनके आन्दोलन ने पूरे महाराष्ट्र को स्वतस्फूर्त प्रतिरोध की आग में झोंक दिया।

यहाँ तक कि विदेशों में भी इसकी अनुगूँज सुनाई दी। इस मामले की सुनवाई त्वरित गति से हुई और आरोपियों को दो साल के भीतर ही सजा भी मिल गयी। इस फैसले के खिलाफ उच्च न्यायालय में अपील की गयी, जहाँ से दो साल के भीतर ही फैसला आ गया। अब मामला सर्वोच्च न्यायालय में है।

दलित उत्पीड़न के अन्य मामलों की तुलना में संतोषजनक प्रगति होती दिखायी देने के बावजूद, यह मामला कई सवाल को उठाता है। निचली अदालत ने आठ लोगों को दोषी ठहराया था और वे जेल में हैं। उच्च न्यायालय ने फैसले को सही ठहराया, हालाँकि उनमें से छह लोगों की मौत की सजा को आजीवन कारावास में बदल दिया। दो साल पहले ही एक अभियुक्त की मौत हो चुकी है। विभिन्न तथ्यान्वेषी रिपोर्टों में दर्ज किया कि यह पैशाचिक कुकृत्य 40 से 60 लोगों की भीड़ द्वारा किया गया था और 46 लोगों की शुरुआती गिरफ्तारी भी इस बात की तस्दीक करती है।

सवाल यह उठता है कि जो लोग जेल में हैं, क्या वही मुख्य दोषी हैं? जब भंडारा अदालत द्वारा सजा सुनायी गयी तो कुछ दलित नेताओं ने मिठाइयाँ बाँटकर इसकी खुशी मनायी। क्या वास्तव में न्याय मिल गया? खैरलांजी की घटना का क्या प्रभाव हुआ है? क्या दलित उत्पीड़न की घटनाओं में कोई कमी आयी? कम से कम महाराष्ट्र में ही सही? इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण यह है कि क्या हाल ही में सुनाये गये फैसले के निराशाजनक रुझान को देखते हुए पीड़ितों के साथ न्याय हो पायेगा? इसी तरह के कई सवाल सहज रूप से उठ खड़े होते हैं और जवाब पाने की उम्मीद करते हैं।

विचित्र और कड़वी फसल

जब मैं चीन में था तभी मुझे खैरलांजी की घटना का पता चला। जब मध्य अक्टूबर में यहाँ वापस आया और जानकारी हासिल की तो विरोधाभासी बयानों से मैं चकरा गया। कार्यकर्ताओं पर अत्याचार हो रहा था, जबकि दलित राजनेता घमण्ड से यह विचार रख रहे थे कि मामला महज अवैध सम्बन्ध का है और जाति से इसका कोई लेना-देना नहीं। यह निश्चित रूप से पुलिस द्वारा तैयार किया गया किस्सा था जिस पर कोई सवाल उठाये बिना ही मीडिया उसे फैला रहा था। नागपुर में कार्यकर्ताओं के उन समूहों में इस बात को लेकर एक असन्तोष था जो इस मुद्दे पर जनता को प्रतिरोध के लिए गोलबन्द करने की कोशिश कर रहे थे। यहाँ तक कि आर्थिक स्वतंत्रता हासिल कर लेने और काफी हद तक सांस्कृतिक जागृति के बाद भी, यहाँ तक कि पुलिस रिकॉर्ड में सभी दोषियों के साथ जातीय टकराव का इतिहास दर्ज होने और घटना के इलाके में उसी दलित उप-जाति के लोगों की प्रशासन में मौजूदगी के बावजूद, एक दलित परिवार का ऐसा भयानक अंत हुआ। यह जगह अम्बेडकरी आन्दोलन के केन्द्र, नागपुर से दो घंटे से भी कम समय की दूरी पर स्थित है। ठीक उसी सप्ताह वहाँ दीक्षा भूमि पर लाखों लोगों की मौजूदगी के बावजूद, इस घटना से दलितों में कोई खलबली नहीं पैदा हुई। खैरलांजी की इन विचित्रताओं ने मुझे इस पर एक किताब *खैरलांजी : अ स्ट्रेंज एंड बिटर क्रॉप* लिखने के लिए मजबूर किया। यह घटना का अतिनाटकीय ब्यौरा नहीं था, न ही तथ्यों का बयान था, बल्कि एक आईना था जो दलितों को यह दिखाना चाहता था कि इतिहास की गति ने जिस समकालीन सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थिति तैयार की है, उसमें वे कहाँ खड़े हैं।

खैरलांजी की घटना ने कई मिथकों को झुठला दिया। यह मिथक कि वैश्वीकरण जाति के विरुद्ध है, जैसाकि मध्यम-वर्गीय दलितों के एक हिस्से ने प्रचारित किया। यह मिथक कि दलितों का आर्थिक उत्थान उनकी असमर्थता का सबसे कारगर उपचार है, जो रुढ़िवादी कम्युनिस्टों द्वारा बड़े चाव से अपनाया गया नजरिया है। बहुजन का मिथक, जो कहता है कि लोगों को अपनी जातीय और धार्मिक पहचान के आधार पर 15 प्रतिशत उच्च-जातीय

शासकों को पराजित करने के लिए साथ आना चाहिए, जैसा की कांशीराम-मायावती की युगलबन्दी ने उत्तर प्रदेश में राजनीतिक सत्ता हासिल करने के लिए किया। यह मिथक कि भद्र जनों में ढेर सारी प्रगतिशील ताकतें हैं जो जाति-विरोधी संघर्षों में दलितों के साथ आ सकती हैं। स्वतंत्र मीडिया और निष्पक्ष राज्य का मिथक। और सबसे बढ़कर, प्रतिनिधित्व का मिथक, जिसका मानना है कि यदि सरकारी मशीनरी को चलाने वालों में दलित होते तो इसका चरित्र दलित-समर्थक होता। ये पूरा नेटवर्क व्यवस्थित रूप से इस पूरे मामले को कमजोर करने में गुप्त रूप से लगा रहा, जिसमें सरकारी वकील की अच्छी-खासी भूमिका थी जिसने बाद में अदालत को बताया कि यह घटना महज “गुस्से की आग” में की गयी कार्रवाई थी। उसने इसे जातिगत उत्पीड़न के रूप में या एक साजिश के रूप में या महिला के शील भंग के रूप में नहीं देखा।

उत्पीड़नों की निरन्तरता

रमाबाई नगर में दस निर्दोष दलितों की हत्या, जिसने विलास घोरे नामक एक गायक की जिन्दगी भी निगल ली, उसके बाद खैरलांजी ने जातिवादी महाराष्ट्र की भर्त्सना की लहर पैदा की यह उम्मीद करना अनुचित नहीं कि महाराष्ट्र जितना कलंकित हुआ है उसे देखते हुए दलित उत्पीड़न की घटनाओं में कमी आयेगी, लेकिन उस उम्मीद पर पानी फिर गया। नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो (एनसीआरबी) के उत्पीड़न सम्बन्धी आँकड़े लगातार बढ़ोतरी ही दर्शाते हैं जिनमें पूरे भारत के स्तर पर ऐसी घटनाएँ 2006 में 2,70,70 से बढ़कर 2014 में 47,064 हो गयी, यानी 74 प्रतिशत की वृद्धि हुई। महाराष्ट्र में यह बढ़त सबसे ज्यादा, 86 प्रतिशत थी, यहाँ तक कि उत्पीड़न की मुख्य श्रेणियों, जैसे-हत्या और बलात्कार में भी 105 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई। ये आँकड़े, जैसा की एनसीआरबी ने भी स्वीकार किया है, अपराध की पूरी तस्वीर पेश नहीं करते और बहुत कम करके आँके गये हैं।

ये आँकड़े किसी भी तरह अपने पीछे छिपी मानव त्रासदी के तीखेपन को प्रदर्शित नहीं करते। कोई भी महाराष्ट्र के एक छोटे से इलाके में महज सात महीनों में (जुलाई 2008 से फरवरी 2009) घटी उत्पीड़न की उन छह घटनाओं के नमूनों में इसकी एक झलक पा सकता है। 5 जुलाई 2008 को अहमदनगर में एक होनहार नौजवान दलित राजनेता बबन मिसाल (32) की उच्च-जातियों के एकाधिकार को चुनौती देने के कारण बर्बरतापूर्ण हत्या कर दी गयी। अपनी स्वाधीनता का दावा करने के चलते एक टैक्सी ड्राइवर साहिबराव जोंढाले (40) की पीट-पीटकर और जलाकर हत्या कर दी गयी। 1 जनवरी 2008 को सुशिलाबाई पवार (40) की बहू के साथ शारीरिक सम्बन्ध बनाने से रोकने के चलते उच्च जाति के लोगों ने पीट-पीटकर हत्या कर दी। हिराबाई पांडुरंगा वाघमारे (56) और महादेव यादव वाघमारे (21) के घरों में महज इसलिए आग लगा दी गयी क्योंकि 26 जनवरी 2009 को गाँव

के दलित सरपंच ने राष्ट्रीय झंडा फहराया। 19 जनवरी 2009 को दो दलित युवतियों, दीक्षा शिंदे (18) और पंचशिला शिंदे (19) को दबंग जाति के लोगों द्वारा गालियाँ दी गयी, उनके साथ मारपीट की गयी और उन्हें अपमानित किया गया, क्योंकि उन्होंने उनकी भद्दी टिप्पणियों का जवाब नहीं दिया। 24 फरवरी 2009 को दबंग जाति के लोगों द्वारा औरंगाबाद में एक दलित युवा रोहिदास (23) की इसलिए पीट-पीटकर हत्या कर दी गयी क्योंकि वह एक उच्च जाति की लड़की से प्रेम करता था। वृहद मराठवाड़ा क्षेत्र में उत्पीड़न की घटनाएँ 2011 में 135 से बढ़कर 2012 में 534, 2013 में 759 और 2014 में 771 हो गयी। यह है उस तथाकथित प्रगतिशील राज्य में दलितों की स्थिति, जो साहू-फुले-अम्बेडकर की विरासत का दावा करते थकता नहीं।

उत्पीड़न की जटिलता

खैरलांजी इस मामले में बहुत सौभाग्यशाली रहा कि “सबूत के आभाव में” अपराधियों की रिहाई के बिना ही उच्च न्यायालय से निकल गया, जबकि इसके पहले के कुख्यात मामलों में सिलसिलेवार यही हुआ। किल्बेनेमेनी में घटित, नये प्रकार के उत्पीड़न के पहले मामले में, जो 1968 में हुआ था, मद्रास उच्च न्यायालय ने 23 जमींदारों को यह कहते हुए बड़ी आसानी से बरी कर दिया था कि सज्जन लोग 44 दलितों को मारने जैसा भयंकर अपराध नहीं कर सकते। प्रसंगवश, उन जमींदारों के लठैत पी पदद्वैयाची की हत्या के जुर्म में आठ दलित खेत मजदूरों को सजा भुगती पड़ी। एक को आजीवन कारावास और बाकी लोगों को एक से पाँच साल की जेल (तेलतुम्बड़े 2014)। न्याय व्यवस्था से अन्याय की जो कथा यहाँ से शुरू हुई वह आने वाले सालों में बढ़ती ही गयी। कुख्यात तुसुसुन्दुरु मामले में (जिसमें 6 अगस्त 1991 को उच्च-जाति के लोगों ने आठ दलितों का निर्ममतापूर्वक नरसंहार किया था) आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय ने निचली अदालत के जिस फैसले में 21 लोगों को आजीवन कारावास और 35 लोगों को एक वर्ष के कारावास की सजा सुनायी गयी थी, उसे पलटते हुए कहा कि बचाव पक्ष अदालत के समक्ष पर्याप्त सबूत पेश करने में नाकाम रहा। यह संयोग ही है कि सर्वोच्च न्यायालय ने फैसले को स्थगित कर दिया। 17 जुलाई 1987 को कर्माचेदु में छह दलितों के नरसंहार के एक मामले में भी आंध्र प्रदेश की उच्च न्यायालय ने अँगोले की निचली अदालत के एक फैसले को इसी तरह खारिज कर दिया था जिसमें 159 लोगों को आजीवन कारावास की सजा सुनायी गयी थी। 23 साल बाद, अभी हाल ही में सर्वोच्च न्यायालय ने अपना अन्तिम फैसला सुनाते हुए मुख्य अभियुक्त अंजैया को आजीवन कारावास और 29 अन्य लोगों को तीन साल की कैद की सजा सुनायी।

1990 के दशक में उच्च जाति की सेनाओं द्वारा जाति

शेष पृष्ठ 22 पर...

सामाजिक न्याय के लिए ऊना आन्दोलन

-पारिजात

जिस वक्त देश के प्रधानमंत्री दिल्ली के लाल किले से देश के नाम जुमलों की बौछार कर रहे थे और पड़ोसियों को उनकी ही भाषा में करारा जवाब दे रहे थे, ठीक उसी वक्त उनके गृहराज्य गुजरात में सदियों से वंचित रहा दलित समाज अपनी अस्मिता और अस्तित्व की लड़ाई लड़ते हुए ऊना की सड़कों पर जाति-प्रथा के नाश के नारे बुलन्द कर रहा था। सड़कों पर उतरा दलित समुदाय देश की सम्पत्ति में अपनी हिस्सेदारी और अपने आत्मसम्मान की लड़ाई के लिए आक्रोशित था।

मोदी सरकार के सत्ता में आने के बाद से ही दलितों-अल्पसंख्यकों पर हमलों की घटनाओं में तेजी से बढ़ोतरी हुई। गाय के नाम पर शुरू हुई राजनीति (गुण्डागर्दी) ने जैसे दबंग जातियों को खुलकर आतंक मचाने की छूट दे दी। उत्तर प्रदेश के दादरी में गो हत्या के उन्माद में भीड़ द्वारा मोहम्मद अकलाख की पीट-पीटकर हत्या कर दिये जाने के बाद गोरक्षकों ने अगला निशाना दलितों को बनाया। देशभर से दलित उत्पीड़न की घटनाओं की खबरें आयीं। इस बीच 11 जुलाई की उस घटना ने आग में घी का काम किया जिसमें गुजरात के ऊना में गोरक्षकों ने चार दलित नौजवानों की सरेआम पिटाई की। चारों नौजवानों पर स्वघोषित गोरक्षक गुण्डों ने गो हत्या/तस्करी का आरोप लगाया। बाद में यह मामला साफ हुआ कि उन्हें मरी हुई गायों को उठाने के लिए विशेष रूप से बुलाया गया था। गाय की खाल उतारना उनका परम्परागत जातिगत पेशा था। नृशंशता की इस घटना का वीडियो जब सोशल मीडिया पर सामने आया तो तरक्की पसन्द समाज और खासकर दलित समाज में बेचैनी पैदा होना लाजमी था। सदियों से जमा गुस्सा एक बार फिर फूट पड़ा। दलित अस्मिता अधिकार मंच के बैनर तले 5 अगस्त 2016 को अहमदाबाद से ऊना तक 'आजादी कूच' पदयात्रा शुरू हुई। इससे पहले 31 जुलाई को ऊना आन्दोलन के युवा नेता जिग्नेश मेवाणी ने अहमदाबाद में एक विशाल रैली को सम्बोधित किया और लगभग 20,000 लोगों ने आगे से गाय की खाल न उतारने की कसम खायी।

गुजरात के दलितों का यह आन्दोलन जैसे-जैसे करवट लेते हुए खड़ा हुआ इसकी सबसे पहली कीमत गुजरात की मुख्यमंत्री

आनंदीबेन पटेल को अपनी कुर्सी गँवाकर चुकानी पड़ी।

ऐसा नहीं है कि पहले की सरकारों के समय दलितों की स्थिति कोई खास अलग थी, लेकिन मोदी सरकार के सत्तासीन होने के बाद से दलित उत्पीड़न और अत्याचार की घटनाओं में तेजी से इजाफा जरूर हुआ है।

संघर्ष और प्रतिरोध जड़ता तोड़ने में मददगार होते हैं। इस तरह ऊना का आन्दोलन शानदार जबरदस्त जिन्दाबाद रहा।

गाय की पूँछ तुम रखो हमें हमारी जमीन चाहिए

मोदी सरकार के सत्ता सम्भालने के बाद से गाय का राजनीतिक महत्त्व बढ़ गया है। गाय के मूत्र से सोना निकलने जैसी हास्यास्पद बातों के प्रचार से लेकर गाय के नाम पर दलितों-अल्पसंख्यकों को पीटना, प्रताड़ित करना और जघन्यता की हद तक जाकर उनकी हत्या कर देने की वारदातें सामने आयी हैं।

11 जुलाई की घटना के लिए भी गाय का ही इस्तेमाल किया गया और अल्पसंख्याकों, खासकर मुस्लिमों पर हमले के लिए भी गाय को बहाना बनाया गया। ऐसे में 'गाय की पूँछ तुम रखो' का जवाबी नारा एक अच्छी खासी आबादी को साथ जोड़ सकता है।

ऊना आन्दोलन इस मायने में अपना विशेष महत्त्व रखता है कि दलित उत्पीड़न की घटनाओं के खिलाफ प्रतिरोध और न्याय की माँग के साथ-साथ आन्दोलन के केन्द्रीय नारे "..... हमें हमारी जमीन चाहिए" ने दलित समस्या के समाधान की दिशा में ठोस बुनियादी माँग को सामने रखा। आन्दोलन ने प्रत्येक दलित परिवार के लिए पाँच एकड़ जमीन की माँग की।

दलित जातियाँ सदियों से जमीन से वंचित रही हैं और जाति व्यवस्था के सबसे निचले पायदान पर स्थित हैं। जमीन की मिल्कियत सवर्ण जातियों के पास रही है और इसी के दम पर वे जाति व्यवस्था के ऊपरी पायदान पर स्थित हैं।

आज भी दलित और छोटी जातियों की भारी आबादी जमीन से वंचित है। यदि देश में समय पर मुकम्मिल भूमि सुधार हुआ होता तो निश्चित रूप से जाति-व्यवस्था के निचले पायदान पर खड़ी दलित और अन्य जातियों के हिस्से भी जमीन आती। उनकी

आर्थिक स्थिति में सुधार होता और जाति उन्मूलन का मार्ग प्रशस्त होता, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। भारत में भूमि सुधार के नाम पर केन्द्र और राज्य सरकार द्वारा सम्मिलित रूप से 1995 तक कुल खेती योग्य भूमि का कुल 1.25 प्रतिशत ही पुनर्वितरण हो पाया। भूमि सुधार का काम मुख्यतः और मूलतः पूरा नहीं हुआ। जमीन पर ऊपरी जातियों की मिल्कियत बनी रही। भूमि सुधार का यह आँकड़ा दलित समस्या के कानूनी समाधान की सीमाओं को भी प्रदर्शित करता है।

जिग्नेश मेवाणी ने सरकार को चेतावनी देते हुए कहा था कि निश्चित समय सीमा तक भूमि आवंटन की दिशा में कोई काम न होने पर दलित सरकारी भूमि पर लट्ट लेकर पहुँच जायेंगे। व्यवहार के धरातल पर इसका क्या असर होगा यह भविष्य की बात है, लेकिन यहाँ पर ब्राह्मणवादी राज्य व्यवस्था से अधिकार हासिल करने के लिए लट्ट की भूमिका को रेखांकित करने का विशेष महत्त्व है।

ऊना के संघर्ष ने भारत की सबसे बड़ी सामाजिक समस्या दलित समस्या को एक बार फिर सतह पर ला दिया और इसके विस्तार और गहराई का अहसास करा दिया।

आजाद भारत की सरकारों, उसकी व्यवस्था, उसकी संसद पिछले सत्तर सालों से दलित समस्या के समाधान में लगी हुई हैं। न जाने कितने कानून बनाये जा चुके हैं, कितनी कल्याणकारी योजनाएँ शुरू की जा चुकी हैं लेकिन यह आज भी कायम है। सामाजिक व्यवहार और रोज ब रोज की घटनाएँ इस बात की तस्दीक करती हैं।

जाति व्यवस्था भारतीय समाज के उन ढेरों कलकों में से सबसे ज्यादा बदनमा है जो धुलने और मिटने के बजाय और भी चटख होता जा रहा है। यह सवर्ण, पिछड़ी जाति, दलित और इसके भीतर भी सैकड़ों जातियों-उपजातियों के शोषणकारी ढाँचे में विभाजित समाज है। देश के पैमाने पर दलित जाति के लोग परम्परा से जिन पेशों में लगे हुए थे उसमें सिर पर मैला ढोने से लेकर मरे जानवरों की खाल उतारने और इसी तरह के अन्य बहुतेरे काम शामिल हैं। यह भारतीय समाज को शर्मसार करने के लिए काफी है। जाति की समस्या और तमाम अन्य समस्याएँ मिलकर भारतीय समाज की एक खण्ड-खण्ड खण्डित तस्वीर प्रस्तुत करती है जो सही मायने में न तो एक समेकित राष्ट्र है और न ही इसमें कोई एकता है।

जाति व्यवस्था के खिलाफ संघर्षों की भी एक लम्बी परम्परा रही है। मध्यकाल में ही कबीर, नानक, मलूका जैसे सन्तों ने जाति व्यवस्था के विभाजनकारी चरित्र और धर्म के ढकोसलों के खिलाफ आवाज बुलन्द की थी। लेकिन इन सबके बावजूद जाति व्यवस्था की जड़ पर प्रहार करने में वे असफल रहे। यह उस युग की सीमाएँ थी, इससे आगे बढ़ पाने का रंगमंच उस दौर की वस्तुगत सामाजिक परिस्थितियों ने उन्हें नहीं दिया था। फिर भी धर्म के तमाम कूड़े-कचरे पर उन्होंने मजबूत प्रहार किया।

आधुनिक समय में इतिहास ने अपनी जरूरत के मुताबिक

अपने नायक पैदा किये। सावित्रीबाई फुले, जोतिबा फुले, और आगे चलकर डॉ. भीम राव अम्बेडकर ऐसे ही नायक हैं जो ताउम्र भारतीय समाज के तमाम सड़े-गले मूल्यों और विभाजनों के खिलाफ संघर्षरत रहे। इन सबके बावजूद जाति-व्यवस्था आज भी भारतीय समाज का विद्रूप बनी हुई है।

गति विज्ञान का नियम है, दुनिया हर वक्त परिवर्तनशील रहती है। भले ही उसकी रफ्तार खरगोश जैसी न हो लेकिन कछुए की रफ्तार से ही सही, वह गतिलीश रहती है।

देश को आजादी मिलने के बाद से आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक रूप से काफी परिवर्तन आये हैं। पूँजीवादी सरकारों ने दलित समस्या को सुलझाने के बजाय उसे व्यवस्था के अनुरूप बदला भी है। आज उत्पीड़न-अत्याचार का रूप भी बदला है। जमिंदारी उन्मूलन, सीमित भूमि सुधार और हरित क्रान्ति के चलते तथा अन्य पूँजीवादी विकास के कारण कुछ मध्यम और पिछड़ी जातियों के हाथों सम्पत्ति आयी है जिसने शोषण के सम्बन्धों में परिवर्तन किये। आरक्षण के चलते दलितों के बीच से जो एक छोटा सा हिस्सा ऊपर उठा जिसे पूँजीवादी-ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने अपने में समाहित भी किया है। अपने में समाहित करना शोषणकारी राज्य व्यवस्था का एक विशेष गुण होता है। डॉ. अम्बेडकर की मृत्यु के बाद उनकी योजना के आधार पर बनायी गयी रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इण्डिया के सर्वमान्य नेता दादासाहेब गायकवाड़ जब भूमि के प्रश्न पर देश भर में आन्दोलन चलाने की योजना बना रहे थे तो काँग्रेस पार्टी ने उन्हें राज्य सभा में स्थापित कर आन्दोलन को ही निस्तेज बना दिया। कांशीराम-मायावती परिघटना ने भी दलितों कः राजनीतिक सत्ता में भागेदारी को तो बढ़ावा दिया, लेकिन जातिप्रथा को निर्मूल करने की ओर अग्रसर नहीं कर पायी।

हाल की घटनाएँ दलित आन्दोलन में एक नये उभार का साफ संकेत देती हैं। हैदराबाद विश्वविद्यालय के शोध छात्र रोहित वेमुला की संस्थागत हत्या और उसके बाद देश भर में हुए आन्दोलनों ने दलित आन्दोलनों की फिजा बदली है। कोर्ट-कचहरी से आगे बढ़कर सड़कों पर उतरना और संघर्ष को देशव्यापी बनाने के प्रयास आन्दोलन की गहराई को चिन्हित करते हैं।

लेकिन कुल मिलाकर दलित समस्या आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। दलित आन्दोलन आज भी एक क्रान्तिकारी संगठन और क्रान्तिकारी विचारधारा के अभाव का दंश झेल रहा है। दलित आन्दोलन को जाति उन्मूलन के क्रान्तिकारी मार्ग से भटकाने के लिए आज दलित आन्दोलन के बीच से ही तमाम तरह के प्रतिगामी विचार मजबूती से जड़ जमाये हुए हैं। जाति उन्मूलन के मुद्दों को पहचान की राजनीति तक सीमित कर देना इसमें सबसे हानिकारक विचारधारा है। यह दलित पहचान से आगे बढ़ने को तैयार नहीं। देश की कुल निर्धनतम आबादी में आज भी सबसे

शेष पृष्ठ 22 पर...

गोरक्षा का राजनीतिक अर्थशास्त्र

-ऋषभ

11 जुलाई 2016 को लगभग 35 गोरक्षकों ने गुजरात के समाधियाला गाँव के 7 दलितों पर अचानक हमला कर दिया। उन पर गाय को काटने का आरोप लगाकर लोहे की छड़ और डंडों से बुरी तरह पीटाया की गयी। उनमें से 4 को अगवा करके पास के ही शहर ऊना ले जाया गया। वहाँ गाड़ी से बाँधकर उन्हें पीटते हुए पूरे शहर में घुमाया गया। उनमें से एक की मृत्यु हो गयी। जाँच में पाया गया की उन्होंने गाय को मारा नहीं था, बल्कि वे मरी हुई गायों की खाल उतार रहे थे। यह उनका पुश्तैनी पेशा था।

मार्च 2016 को झारखंड में पशु व्यापारी मजलूम अंसारी और उनके 12 वर्षीय मासूम लड़के को बुरी तरह पीटा गया, उन पर भी गाय को मारने का आरोप था। इसके बाद पेड़ पर फंदा लटकाकर उनकी हत्या की गयी। इसी कड़ी में मध्य-प्रदेश के एक रेलवे स्टेशन पर कुछ मुस्लिम महिलाओं पर गाय का मांस ले जाने का आरोप लगाकर सबके सामने बेईज्जत किया गया।

गोरक्षा की आड़ में आये दिन देशभर में ऐसी घटनाओं को लगातार अंजाम दिया जा रहा है। दादरी के अखलाक से शुरू होकर यह न जाने कितने लोगों की जान निगल लेगा? कुछ साल पहले तक ऐसी घटनाएँ कहीं सुनने में नहीं आती थी। लेकिन पिछले एक साल में गुजरात, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, हरियाणा, पंजाब, जम्मू-कश्मीर, झारखंड आदि राज्यों में गोरक्षकों के आतंक का कहर औरतों, बच्चों, जवानों

और बूढ़ों सभी पर टूट पड़ा है। इन अत्यचारों को नजरअन्दाज़ नहीं किया जा सकता। क्या गोरक्षक केवल धार्मिक लोगों की उन्मादी भीड़ हैं या फिर सच्चाई कुछ और है।

गोरक्षकों के हमलों ने पशु-व्यापारियों, डेयरी चालकों और आम किसानों को भयभीत कर दिया है। पंजाब में 6500 बड़े डेयरी किसानों के समूह-- प्रगतिशील डेयरी किसान संघ के अध्यक्ष दिलजीत सिंह गिल बताते हैं कि "गौरक्षकों के आतंक के चलते अब कोई व्यक्ति गाय से सम्बन्धित चीज लाना-लेजाना नहीं चाहता। मामला केवल गायों का नहीं है भैंसों को भी रोक लिया जाता है जो दूध भी ज्यादा देती है और उत्पादन में खर्च भी कम आता है। यहाँ हजारों लोग डेयरी के काम से जुड़े हुए हैं जिसके चलते पशुओं की खरीद-बिक्री स्वाभाविक है। गोरक्षकों के चलते यह सब बाधित हो गया है। अब लोग पशुओं को खरीदने से भी डरने लगे हैं। जिसके चलते मजबूरी में बाखड़ी गायों को सड़क पर छोड़ देना पड़ता है। इस समस्या ने इतना विकराल रूप धर लिया है कि लगभग 7 लाख गायें पंजाब की सड़कों पर आवारा घूम रहीं हैं, जो अक्सर सड़क दुर्घटनाओं का कारण बनती हैं। दुधारू गायों को गोरक्षक जबरदस्ती गोशाला ले जाते हैं, लेकिन सड़कों पर घूम रही लाखों गायें गोरक्षकों को दिखायी नहीं देती।

गोरक्षकों ने व्यापारी इकबाल की 17 भैंसों और कुछ बछड़ों को जबरदस्ती गोशाला में जमा कर लिया जिनकी कीमत 5 लाख बतायी गयी है। गोरक्षक इन गोशालाओं में पशुओं से लाखों कमाते हैं। उनका उद्देश्य

गोरक्षा के बहाने पशु-व्यापारी से रंगदारी वसूल करना ही रह गया है, इसकी पुष्टि हाल ही में उत्तर प्रदेश की एक महिला गोरक्षा समिति की एक सदस्या ने की थी।

गुजरात की ऊना घटना के बाद जब पानी सर के उपर चढ़ गया, तो प्रधानमंत्री को भी बताना पड़ा कि 80 फीसद गोरक्षक अपराधी हैं और गैरकानूनी काम करते हैं। लगभग 3 लाख गायें सालाना पंजाब से गुजरात, आन्ध्र प्रदेश और उत्तर प्रदेश भेजी जाती हैं। इसका मतलब लगभग 5 से 6 हजार गायें रोजाना पंजाब से बाहर भेजी जाती हैं। उनसे जबरन वसूली गोरक्षकों की लूट का मुख्य स्रोत है। रास्ते में पशुओं से भरे ट्रकों को गोरक्षक दल द्वारा रोक लिया जाता है और बिना रंगदारी वसूले उन्हें आगे नहीं जाने दिया जाता। लगभग 3 हजार करोड़ रुपयों के कारोबार में लिप्त एक नया बिचौलिया गोरक्षकों के भेष में सामने आया। हरियाणा स्थित घेसरा में 500 से ज्यादा भूमिहीन किसान हैं जो पूरी तरह केवल चमड़ा सम्बन्धित उद्योगों पर ही अपनी जीविका के लिए निर्भर हैं। गोरक्षकों के वसूली और आतंक के चलते वहाँ का चमड़ा उद्योग तबाह हो गया है, जिसका खामियाजा इस उद्योग से जुड़े परिवारों को भुगतना पड़ रहा है। हापुड़ से संचालित कच्चे चमड़े के कारोबार पर लगभग 5 लाख लोग निर्भर हैं। ये लोग खाद्य सामग्री और रोजमर्रा के इस्तेमाल वाली कई चीजों के निर्माता हैं। कोल्हापुर का विख्यात चप्पल उद्योग भी आज संकट में है। केवल उत्तर प्रदेश में ही अब तक तकरीबन 400 छोटे

चमड़ा उधोग बन्द हो गये हैं।

गायों के संरक्षण में भाजपा सरकार और गोरक्षकों के मंसूबों की असलियत कई खबरों में सामने आयी है, जैसे- 'ट्रिब्यून इंडिया' के मुताबिक, राजस्थान सरकार ने बताया है कि हिंगोनिया गोशाला में 1 जनवरी से लेकर अगस्त तक 8122 गायें खराब सेहत और चोट-चपेट के चलते मर चुकी हैं। यह खबर दबी रही। न मंत्रियों ने इसकी सुध ली, न स्वतंत्र-आत्मनिर्भर गोरक्षकों ने। इस गोशाला में गायों का सालाना बजट 2007-08 में 5.19 करोड़ था। 2015-16 में इसे बढ़ाकर 10.78 करोड़ कर दिया गया। इसके बावजूद यहाँ औसतन एक दिन में 30 से अधिक गायें मर जाती हैं। राजस्थान में भाजपा की सरकार है। यह पहला राज्य है जहाँ गोपालन विभाग बनाया गया है। यह बात स्पष्ट होती जा रही है कि गाय कुछ लोगों के लिए माँ है, कुछ के लिए भोजन का स्रोत है, तो कुछ लोगों के लिए सत्ता की कुर्सी हथियाने का साधन है।

गाय के मुद्दे पर भाजपा समर्थक ये अपराधी क्यों? सवाल गाय को संरक्षित करना, उसकी जीवनदशा सुधारना या दुग्ध उत्पादन बढ़ाना नहीं, बल्कि गाय पर राजनीति करना, साम्प्रदायिकता बढ़ाना तथा व्यापारियों और पशुपालकों को लूटने के लिए अपने लठैतों को लूट की खूली छूट देना है। यह उगाही खासकर अपराधिक प्रवृत्ति के पार्टी कार्यकर्ताओं के लिए एक आर्थिक

प्रलोभन है। अन्यथा बीफ के निर्यात में वृद्धि किस ओर संकेत है? हिन्दुत्वाद पूँजीवाद को नकार नहीं सकता। बाप बड़ा न भैया सबसे बड़ा रूपैया। गौ माँ को महानता की ऊँचाई पर चढ़ा देना चाहिए अगर वह धन और सत्ता की जननी है। हिन्दुत्ववाद के सत्ता में रहते ही परिवार, समाज और नैतिक जीवन मूल्यों को तबाह करने वाला पूँजीवाद फल-फूल सकता है! गौ को इतना महान बना दिया जाये, उसके बारे में खुलकर बात करना भी अपराध हो जाये और उसी समय बीफ के निर्यात में बढ़ोतरी पर सीना फुलाया जाये। यह सब होते हुए भी लोगों के मन में गाय को लेकर जितना अधिक खौफ रहेगा, गाय के ट्रक पकड़े जाने पर उतनी उम्दा उगाही होगी, यानी नोटों और वोटों की बारिश की झड़ी लग जायेगी। यह नये किस्म के मनुवाद को आरोपित किया जा रहा है। मनुवाद क्या है? गाय के गोबर को पूजनीय गणेश बना देना और इनसान को तिरस्कृत और बहिष्कृत कर देना ही मनुवाद है। इसी मनुवाद के रहते जनकल्याण सत्ता की सीढ़ी होकर गाय, धर्म और साम्प्रदायिकता सत्ता पाने का स्रोत बन जाती है। सच ही है यह नव-मनुवाद के उभार का दौर है। आज इतिहास की सारी बदबू और गजालत फिर से खुद को जिन्दा करने की कोशिश कर रही है। यह नव-मनुवाद फलदायी है और गोरक्षा का निहितार्थ भी यही है।



...पृष्ठ 18 का शेष

उत्पीड़न की कई खुनी वारदातें हुईं, फिर भी कम्युनिस्टों से जुड़े होने के कारण दलितों ने उनकी कमोवेश अवहेलना ही की। फरवरी 1992 को बारा में 35 भूमिहार-ब्राह्मणों की हत्या के लिए तीन दलितों को मौत की सजा सुनायी गयी और छह को आजीवन कारावास मिला जिसे एक साल के भीतर, 2002 में ही सर्वोच्च न्यायलय ने मंजूर कर लिया तथा तीन और दलितों को टाडा अदालत ने मौत की सजा सुनायी क्योंकि वे माओवादी कम्युनिस्ट सेंटर के सदस्य थे, जबकि उच्च जातियों द्वारा दलितों के नरसंहार के मामलों में पटना उच्च न्यायलय द्वारा बाइज्जत बरी किये गये मामलों की एक पूरी फेहरिस्त है। इसकी अगली कड़ी के रूप में अदालत ने बथानी टोला, लक्षमनपुर बाथे, मियापुर, नगरी बाजार और खाबरा मुजफ्फरपुर केस के रणवीर सेना के सभी अभियुक्तों को बरी कर दिया।

अगर यही रुझान रहा तो भूतमाँगे परिवार को न्याय मिलना निश्चय ही दूर की कौड़ी है।

(इकोनोमी एण्ड पोलिटिकल वीकली, 3 सितम्बर 2016, से साभार, अनुवाद : पारिजात।)



...पृष्ठ 20 का शेष

बड़ा हिस्सा दलित समुदाय से ही आता है जिसकी रोजी-रोटी की समस्या पहचान की राजनीति करने वालों के एजेण्डे में शामिल नहीं। पूँजीवादी-ब्राह्मणवादी राज्य व्यवस्था को इससे जरा भी खतरा नहीं, बल्कि यह अन्ततः उसे ही मजबूत करती है। इसलिए सरकारें इसके पर्याप्त फलने-फूलने और आगे बढ़ाने में मदद ही करती हैं।

अस्मिता के सवाल को अस्तित्व के सवाल से अलग हटाकर नहीं देखा जा सकता। ऐसा कोई भी प्रयास जाति उन्मूलन और वर्ग उन्मूलन की दिशा में अवरोध ही साबित होगा। दलित समस्या के समाधान के लिए एक सशक्त संगठन और ठोस बुनियादी वैचारिक हथियार आज भी समय की माँग हैं।



आई एस और यू एस

-धुबज्योती मुखर्जी

सारी दुनिया को इस्लामी आतंक में डुबो देने की कोशिश हो रही है। आतंक-भय को दुश्चिन्ता बनाकर यूरोप के अनेक देश और अमरीका अपने ही देश के नागरिकों के मूलभूत अधिकारों का हनन कर रहे हैं। अदभुत बात यह है कि आतंकवादी कार्रवाइयों के जरिये आतंकवाद खत्म करने का नाटक किया जा रहा है।

फिलहाल इस्लामिक स्टेट को सबसे बड़ा आतंकवादी दुश्मन करार दिया जा रहा है। सवाल यह है कि आईएस को किसने पैदा किया। काबिले गौर यह है कि धर्मांधों का एक समूह या कोई साम्प्रदायिक शक्ति चाह कर भी अन्तरराष्ट्रीय आतंकवाद को संगठित नहीं कर सकती। भक्ति-भाव की प्रेरणा से ज्यादा से ज्यादा मन्दिर-मस्जिद का निर्माण किया जा सकता है, लेकिन उससे एके-47 के गोदाम कैसे भरे जा सकते हैं? आप रुपये होते हुए भी मशीनगन नहीं खरीद सकते। यह दुकान पर या ऑनलाइन नहीं खरीदी जा सकती।

गत वर्ष दिसम्बर में सीएनएन ने एक वीडियो दिखाया था, जिसमें यह खबर थी कि आई एस ने टोयटा कम्पनी के ट्रक के साथ परेड की थी। उस परेड में एक दो नहीं, बल्कि एक सौ से अधिक ट्रक थी। इस खबर से अमरीका में खलबली मच गयी। लोग सवाल करने लगे कि इतने अधिक ट्रक इसे कहाँ से मिले। टोयटा के ही एक मुख्य प्रवक्ता एड लुईस ने एबीसी न्यूज को एक इंटरव्यू में बताया कि उनकी कम्पनी कानूनी इजाजत के बिना किसी को सैनिक ट्रक नहीं बेचती।

सवाल यह है कि किस स्वीकृत कानून के तहत आई एस ने टोयटा ट्रक खरीदे थे?

गत वर्ष जून में सी वी सी समाचार संस्था की ओर से बताया गया था कि कैसे संयुक्त राज्य अमरीका आई एस को हथियार सप्लाई कर रहा है? इसके अतिरिक्त सी वी सी ने विभिन्न सूत्रों से प्राप्त किये गये समाचार के आधार पर एक लिस्ट प्रकाशित की है।

2300 हथियार ढोने वाले वाहन जिनमें प्रत्येक की कीमत 70 हजार डॉलर होती है।

40 टी एम 1 अब्राम टैंक। प्रत्येक टैंक की कीमत 43 लाख डॉलर है।

74,000 आर्मी मशीन गन। इनमें प्रत्येक कीमत 4000 डॉलर है।

इस प्रकार तकरीबन 21.97 करोड़ डॉलर के हथियार और

वाहन अमरीका द्वारा आई एस को दिये गये हैं। अमरीका द्वारा ही बताया गया कि इतने ज्यादा हथियार उन्हें घटनाओं के सिलसिले में मिल गये हैं।

घटनाओं के सिलसिले में? नहीं! दरअसल पश्चिमी एशिया के अमरीकी शत्रुओं के विरोध में एक के बाद एक आतंकवादियों, यानी 'इस्लामी आतंकवाद' की मदद करना अमरीका की विदेश नीति के तहत एक रणनीति है। अमरीका इसी नीति के तहत अफगानिस्तान और मिस्र के विरुद्ध कार्रवाई में जुटा हुआ है।

रोनाल्ड रीगन के अमरीका ने ही तो अफगानिस्तान में 'तालिबान' और बाद में 'अलकायदा' को संगठित किया था।

सी आई ए के भूतपूर्व डायरेक्टर राबर्ट गेट्स ने 'फ्रांस द शैडोज' नामक पुस्तक में लिखा है कि अमरीका के राष्ट्रपति जिमी कार्टर के राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार ब्रेजेन्सकी ने कहा है कि "अमरीकी इतिहास में यह लिपिबद्ध है कि 1980 से ही अमरीका अफगानिस्तान के 'मुजाहिदीनों' की मदद कर रहा है। यानी 24 दिसम्बर 1979 को सोवियेत सेना के अफगानिस्तान में प्रवेश करने के बाद से ही। लेकिन सच्चाई यह है कि ब्रेजेन्सकी की बात के विपरीत कार्टर ने 3 जुलाई 1979 में ही अफगान मुजाहिदीनों की सहायता के लिए दिये गये निर्देश पर हस्ताक्षर किये थे। क्योंकि हम लोग रूस समर्थित अफगान सरकार को उखाड़ फेंकना चाहते थे।"

अमरीका की यही नीति पार-अरब दुनिया पर लागू है। रонаल्ड रीगन ने कई बार अफगानी मुजाहिदीनों के साथ हाईट हाउस में बैठक की थी। उस समय अफगानी मुजाहिदीनों को अमरीका 'स्वाधीनता संग्रामी' कहता था। सी आई ए ने खुद स्वीकार किया है कि ओसामा बिन लादेन अपने कार्यकाल में शुरू से ही सी आई ए के निर्देश से काम करता था। रीगन ने ही अलकायदा को निर्मित और संगठित करवाया था।

ईराक पर इलजाम लगाया गया कि उसके पास व्यापक जन-विध्वंसी हथियारों का जखीरा है। इस बहाने से मार्च 2003 में ईराक पर कब्जा कर लिया गया। दखल किये गये इसी ईराक को पहले 'अलकायदा ऑफ ईराक' और इसके बाद 'आई एस' कहा जाने लगा है।

2015 में आई एस के एक पाकिस्तानी कमांडर युसूफ सलाकी ने जिरह के दौरान यह स्वीकार किया है कि वह अमरीका की विभिन्न संस्थाओं के माध्यम से आर्थिक सहायता पाता था।

सलाकी के इस बयान के कुछ महीने बाद ही अमरीकी प्रतिरक्षा एजेन्सी के भूतपूर्व निदेशक माइकेल पिलन ने समाचार माध्यमों को बताया कि मैंने तो पहले ही ओबामा प्रशासन को सतर्क किया था कि सीरिया की सरकार के विरोध में जिन्हें मदद दी जा रही है वे 'इस्लामी जिहादी' हैं।

आई एस ने अमरीका के घोषित शत्रु सीरिया की असद सरकार के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की है।

इजराइल अरब दुनिया में अमरीका का मुख्य सहयोगी है। ईराक और सीरिया में बहुत से तेल के स्रोत हैं। इन स्रोतों पर आई एस का कब्जा है। यह तेल खदानों से निकालकर तुर्की में ले जाया जाता है। तुर्की अमरीका का मित्र और नाटो का सदस्य है। इस तेल की बिक्री से आई एस को हर महीने करीब 1.9 करोड़ डॉलर की आमदनी होती है। इस तेल का मुख्य खरीदार कौन है? अमरीका का प्यारा देश इजराइल।

एडवर्ड स्तोडेन के खुलासे से पाये गये तथ्यों के अनुसार आई एस के शीर्ष नेता अबूबकर अल बगदादी का सैन्य प्रशिक्षण इजराइल में हुआ था।

तुर्की और इजराइल के अलावा अमरीका के मित्र जॉर्डन और सऊदी अरब में भी आई एस को सैन्य प्रशिक्षण और आर्थिक सहायता दी जाती है। अमरीका के दूसरे मित्र देश और नाटो के सदस्य भी अरब दुनिया में आई एस की सप्लाई लाइन हैं। क्रोएशिया, जॉर्डन, तुर्की, इजराइल के रास्ते से पैसा और हथियार दोनों आते हैं।

आजकल ओबामा शासन आई एस के खिलाफ युद्ध जारी किये हुए है। इसके बारे में पश्चिमी समाचार माध्यम के एक धड़े द्वारा कहा जाता है कि यह तो लोगों को दिखाने के लिए एक प्रहसन है। यह छद्म युद्ध है। दरअसल सीरिया के खिलाफ यह युद्ध गैस पाइप लाइन का युद्ध है।

यूरोप में खर्च होने वाली कुल गैस के एक चौथाई भाग की आपूर्ति रूस करता है। लेकिन यूरोप का इलाका कतर और इरान से नयी पाइप लाइन द्वारा गैस हासिल करना चाहता है। समस्या यह है की कतर से आने वाली पाइप लाइन फारस उपसागर से सऊदी अरब, सीरिया और तुर्की होते हुए यूरोप में प्रवेश करेगी। लेकिन इस पाइप लाइन को बिछाने के लिए रूस के मित्र सीरिया ने अनुमति नहीं दी।

इरान की पाइप लाइन ईराक और सीरिया से होकर भूमध्य सागर के नीचे-नीचे यूरोप में प्रवेश करेगी। इन दोनों क्षेत्रों से पाइप लाइन का रास्ता बेहद महत्वपूर्ण है।

वास्तव में आर्थिक दृष्टि से ईराक और सीरिया से गुजरे बगैर अरब से यूरोप तक गैस पाइप लाइन बिछाने में बहुत अधिक खर्चा लगेगा। इसीलिए ईराक और सीरिया को कब्जे में लेना तथा रूस की करीबी असद सरकार को उखाड़ फेंकना अमरीका के अपने हित में बेहद जरूरी है। आई एस ने वहाँ कब्जा जमाने का काम तो किया ही है।

आर्थिक और भू-राजनीतिक आधिपत्य के लिए अमरीका ने अलकायदा से लेकर आई एस तक को निर्मित और संगठित किया है। अमरीका 'अल-नुसरा', 'सलाफिस्ट', 'ब्रदरहुड', 'जमात' सभी का समर्थक है। मोदी सरकार भी इसी तरह अमरीका के पद चिन्हों

पर चल रही है।

1990 से भारत सरकार ने अमरीका के पक्ष में अपनी विदेश नीति को बदलना शुरू किया। एक समय वह भी था जब भारत सरकार फिलिस्तीन की मित्र थी। वाजपेयी के शासन काल में इजराइल के साथ दोस्ती बढ़ाने का सिलसिला शुरू हुआ। बेंजामिन नेतन्याहू को सादर आमंत्रित कर भारत बुलाया गया। आज इजराइल से हथियार खरीदनेवाले देशों में भारत का दूसरा स्थान है।

पहले तो यू पी ए (मनमोहन) सरकार ने अमरीकी दबाव के तहत भारत-इरान गैस समझौता रद्द कर दिया भारत-अमरीकी सेना का सम्मिलित युद्ध अभ्यास शुरू हुआ। गौर करने वाली बात है कि परमाणु-सन्धि में यही प्रमुख शर्त थी। परिणामस्वरूप भारत की विदेशनीति अमरीकी विदेश नीति के मातहत हो गयी।

हाल ही में मोदी की अमरीका यात्रा के बाद अब और स्पष्ट हो गया कि भारत सरकार और अमरीकी सरकार की रणनीतिक साँठगाँठ और मजबूत हुई है। भारत सरकार ने रक्षा क्षेत्र में 100 प्रतिशत विदेशी निवेश का कानून पारित कर उसे लागू भी कर दिया है। इसका वर्तमान और भावी परिणाम यह होगा कि भारत के सैनिक क्षेत्र में केवल डॉलर की ही घुसपैठ नहीं होगी, बल्कि उसके साथ-साथ अमरीकी सेना की घुसपैठ का भी रास्ता खुल गया। इस तरह अब नाटो के प्रसार-प्रभाव क्षेत्र को भारत तक विस्तारित कर दिया गया।

अमरीका की आँखें भारत पर गड़ी हुई हैं। इस दिशा में वह पिछले दो दशकों से कोशिश कर रहा है। अब इस्लामी आतंक के लिए भारत की जमीन उर्वर बन गयी है। भारत में हिन्दुत्व विचारधारा वाली पार्टी के हाथ में शासन-सत्ता है। अमरीका चाहता भी यही है की उसके अनुकूल विदेश नीति, उदारवादी आर्थिक नीति तथा इनको आसानी से पूरा करने वाला मुस्लिम विद्वेषी हिन्दुत्व भारत भूमि पर अपना प्रभाव सुदृढ़ करे।

अभी हाल ही में टेलीग्राफ समाचार पत्र में एक खबर प्रकाशित हुई है। स्वीडन की एक भद्र महिला फेसबुक में स्वयं अपना निजी एकाउंट लॉगऑन नहीं कर पायी, क्योंकि उसका नाम आइसिस थॉमस था। इसे इस तरह कहना अच्छा होगा कि चूँकि उसके नाम का हिज्जे आई एस आई एस है, इसलिए फेसबुक ने उसे रोका। इतनी कड़ाई से निगरानी हो रही है। लेकिन मजेदार बात यह है की गुप्तचरों ने ही बताया है कि हमारे राज्य में मसीउद्दीन अहमद उर्फ मूसा फेसबुक के माध्यम से ही आई एस नेताओं से बात करते थे। इस पर किसी तरह की गुप्तचरी नहीं की गयी थी।

एक जरूरी दुहराव के साथ लेख समाप्त करने का मन हो रहा है। मूसा जैसे लोग धर्मान्ध हो सकते हैं। लेकिन यह 'लोकल धर्मान्धता' अगर वैश्वीकृत मदद नहीं पायेगी तो वह आई एस में नहीं बदल सकती, क्योंकि खुले बाजार से एके-47 नहीं खरीदी जा सकती।

(अनुवाद : विमल वर्मा)

'गणशक्ति' 14 जुलाई से साभार)



कना का कसाई : शिमोन पेरेस कोई शान्तिदूत नहीं था

--रॉबर्ट फिस्क

जब दुनिया ने सुना कि शिमोन पेरेस मर गया तो चिल्लायी “शान्तिदूत!” लेकिन जब मैंने सुना कि पेरेस मर गया तो मेरी आँखों के सामने खून और आग और कल्लेआम तारीं हो गये।

मैंने नतीजा देखा था बच्चों के चिथड़े उड़ते, शरणार्थियों को चीखते, लपटों में घिरी देह। यह कना नाम की जगह थी और लगभग सभी लाशें, जिनमें आधी बच्चों की थी, नीचे संयुक्तराष्ट्र के शिविर में बिछी थी, जहाँ 1996 में उनको इजराइली गोलों ने टुकड़े-टुकड़े कर दिया था। मैं दक्षिणी लेबनान के एक गाँव के ठीक बाहर संयुक्तराष्ट्र सहायता काफिले में शामिल था। वे गोले हमारे सर के ठीक दायीं ओर से सरसरते हुए गुजरे और हमारे नीचे शरणार्थियों से भरे खेमे में जाकर फटे। गोलाबारी सत्रह मिनट तक जारी रही।

शिमोन पेरेस जब अपने पूर्ववर्ती इजराइली प्रधानमंत्री इत्साक राबिन की हत्या के बाद प्रधानमंत्री पद का प्रत्याशी बना तो चुनाव से पहले उसने अपनी सैनिक साख बढ़ाने के लिए लेबनान पर हमला करने का फैसला लिया। संयुक्त नोबेल शान्ति पुरस्कार विजेता ने इसके लिए हिजबुल्ला द्वारा लेबनान की सरहद पर कत्युशा रॉकेट दागे जाने को बहाना बनाया। वास्तव में, उनका रॉकेट दागना एक छोटे से लेबनानी बच्चे की खिलौना बम से हुई मौत का बदला था। उनको शक था कि वह बम इजराइली गस्ती दल ने रखा था। हालाँकि

उन रॉकेटों से कोई नुकसान नहीं हुआ था।

कुछ दिनों बाद लेबनान के अन्दर इजराइली सैनिकों पर कना के पास हमला किया गया, जिसका बदला गाँव पर गोलाबारी करके लिया गया। उनका पहला गोला एक कब्रिस्तान पर गिरा जिसका इस्तेमाल हिजबुल्ला करता था बाकी सब के सब सीधे संयुक्त राष्ट्र के फीजी सैनिक शिविर में जाकर फटे, जहाँ सैकड़ों नागरिकों ने पनाह ली थी। पेरेस ने एलान किया कि “हमें नहीं पता था कि शिविर में सैकड़ों नागरिक जमा हैं। जब हमें पता चला तो बहुत ताज्जुब हुआ।”

यह सफेद झूठ था। 1982 के हमले के बाद से ही इजराइली सेना कना पर कब्जा जमाये हुए थी, उनके पास शिविर की वीडियो फिल्म थी, यहाँ तक कि 1996 के कल्लेआम के समय वे शिविर के ऊपर ड्रोन उड़ा रहे थे। एक ऐसी सच्चाई जिससे वे तब तक इनकार करते रहे जब तक एक संयुक्त राष्ट्र सैनिक ने ड्रोन का वीडियो हमें नहीं दिया और हमने उसकी क्लिप द *इंडिपेंडेंट* में प्रकाशित करवायी। संयुक्तराष्ट्र ने हमेशा इजराइल को बताया था कि शिविर में नागरिक भरे पड़े हैं।

यही था लेबनान में शान्ति स्थापित करने में पेरेस का योगदान। वे चुनाव हार गये और शायद उन्होंने कभी कना के बारे में ज्यादा सोच-विचार नहीं किया होगा। लेकिन मैं कभी उसे भूल नहीं पाया।

जब मैं संयुक्तराष्ट्र शिविर के दरवाजे

पर पहुँचा तो लोगों के शरीर से खून की धार बह रही थी। मैं इसे सूँघ सकता था। खून मेरे जूतों के ऊपर तक आया और गोंद की तरह उनसे चिपक गया। वहाँ पैर थे, बाहें थी, बिना सर के बच्चे थे, बूढ़े लोगों के बिना धड़ के सर थे। एक आदमी की लाश दो टुकड़ों में एक जलते पेंड पर टंगी थी। जो कुछ बचा था वह आग के हवाले हो गया था।

बैरक की सीढ़ी पर एक लड़की पके बालों वाले एक आदमी की लाश लिये बैठी थी। उसकी बाहें लाश की गर्दन से लिपटी हुई थी और वह उसे अपनी बाहों में झुला रही थी। लाश की खुली आँखें लड़की की ओर एकटक निहार रही थी। लड़की लगातार मातम करती, रोती-कलपती रही “मेरे अब्बू, मेरे अब्बू।” अगर वह जिन्दा होगी और अगर आने वाले दिनों में कना पर फिर हमला हुआ, इस बार इजराइली वायु सेना के द्वारा, तो मुझे सन्देह है कि उसके होठों पर “शान्तिदूत” शब्द आयेगा।

संयुक्तराष्ट्र जाँच दल ने अपनी रपट में बड़े नरम लहजे में कहा था कि उसे यकीन नहीं कि वह कल्लेआम एक दुर्घटना थी। उस रपट पर यहूदी-विरोधी होने का इल्जाम लगा था। काफी समय बाद एक साहसी इजराइली पत्रिका ने उस तोपखाने के सिपाही का इन्टरव्यू छापा, जिसने कना पर गोला दागा था। एक अधिकारी ने गाँववालों को “सिर्फ अरबों का एक झुण्ड” कहा था (हिब्रू में “अरबुशिम”)। “कुछ

अरबुशिम मर गये, इसमें नुकसान जैसी कोई बात नहीं,” उसकी बात इसी रूप में उद्धृत की गयी थी। पेरिस के सेना प्रमुख ने भी उतनी ही लापरवाही से जवाब दिया— “मुझे खेल का कोई और नियम नहीं मालूम, चाहे (इजराइली) सेना के लिए हो या नागरिकों के लिए...”

पेरिस ने अपने लेबनानी हमले को “ऑपरेशन गुस्से के अंगूर” नाम दिया था जो अगर जॉन एस्टाइनबेक से नहीं, तो बाइबिल (बुक ऑफ़ ड्यूटेरोनोमी) से जरूर प्रेरित था। अध्याय 32 में बताया गया है कि “बाहर उनकी तलवार उनकी जान लेगी और भीतर उनको आतंक घेर लेगा, जवान आदमी और कुंवारी लड़की दोनों का नाश होगा, पके बाल वाले आदमी के साथ दूधमुहें बच्चों का भी।” क्या कना के उन सत्रह मिनटों का इससे बेहतर ब्यौरा हो सकता है?

हाँ, निश्चय ही, पेरिस बाद के वर्षों में बदल गये थे। वे लोग कहते हैं कि एरियल शेरोन, जिनके सैनिक 1982 में साबरा और शातिला शिविर के कत्लेआम की निगरानी अपने लेबनानी ईसाई सहयोगियों के साथ कर रहे थे, वे भी मरते समय शान्तिदूत हो गये थे। कम से कम उनको नोबेल पुरस्कार नहीं मिला।

पेरिस आगे चलकर ‘दो राज्य समाधान’, यहाँ तक कि फिलिस्तीन की धरती पर यहूदी बस्तियों की भी हिमायत करने लगे, जिसका एक समय उन्होंने बड़े उत्साह से समर्थन किया था, उसे आगे बढ़ाते रहे।

अब हमें जरूर उनको “शान्तिदूत” कहना चाहिए। और गिनिये, अगर आप गिन सकें, कि अगले कुछ दिनों के दौरान पेरिस की श्रद्धांजलि सभा में कितनी बार “शान्ति” शब्द का इस्तेमाल होता है। फिर गिनिये कि कितनी बार कना शब्द आता है।

**(काउन्टर पंच से साभार।
अनुवाद- दिगम्बर)**

...पृष्ठ 53 का शेष

लेकर आया। अब वह वियतनाम में सैन्य अड्डा बनाने की मंजूरी पाने की कोशिश में है।

2010 के बाद, अमरीकी रणनीति के जवाब में चीन ने भी सागर में अपनी सेना की तैनाती का काम शुरू कर दिया। चीन स्कर्वोरो व स्प्रेटली द्वीपों पर अपनी सैन्य टुकड़ियाँ तैनात कर चुका है। इसने फिलीपींस की सीमा से मात्र 26 किमी. की दूरी पर, मिसचीफ रीफ और सूवी रीफ पर लड़कू और मालवाहक विमानों के उतरने लायक हवाई पट्टियाँ बना ली हैं। अब वह कर्टरान रीफ पर बेहद उच्च-क्षमता का रडार लगा रहा है। चीन अपने निमार्णाधीन परमाणु ऊर्जा प्लेटफार्म को भी इस सागर में तैनात करने की योजना बना रहा है।

कूटनीतिक स्तर पर भी दोनों देशों के बीच जंग छिड़ी है। अमरीका दुनिया में चीन की छवि एक ऐसे देश के रूप में गढ़ने में काफी हद तक कामयाब रहा है जो अन्तरराष्ट्रीय फैसलों को नहीं मानता। दूसरी ओर चीन भी फिलीपींस में अमरीका के सैन्य अड्डे की मंजूरी को खटाई में डालने में कामयाब रहा है। वह अमरीका को इस क्षेत्र से अपना विमानवाहक युद्धपोत हटाने के लिए भी मजबूर कर चुका है बदले में चीन ने भी वूडी द्वीप से अपनी मिसाइल बैटरी हटा ली है।

अमरीका को सबसे बड़ा झटका फिलीपींस से ही लगा है। वहाँ के नवनिर्वाचित राष्ट्रपति रोड्रीगो ड्यूटेट का झुकाव चीन की तरफ है। वे सैन्य अड्डों के निमार्ण के विरोध में हैं और मंजूरी को वापस लेना चाहते हैं। उनका कहना है कि हम अपनी अर्थव्यवस्था के दम पर अपने देश को मजबूत करेंगे। फिलीपींस की, चीन के करीबी माने जाने वाले पूर्वराष्ट्रपति फिदेल राओस को वार्ता के लिए चीन भेजने की योजना है। लेकिन फिलीपींस के अमरीका परस्त प्रमुख राजनीतिज्ञ धमकी दे रहे हैं कि अगर राष्ट्र की स्वायत्ता से समझौता किया गया तो राष्ट्रपति के खिलाफ महाभियोग की कार्रवाई की जायेगी। अमरीका भी रक्षा सहयोग को और ज्यादा मजबूत करने के लिए फिलीपींस के रक्षामंत्री को अमरीका आने के न्योते भेज रहा है।

इस क्षेत्र में अमरीका और जापान का सबसे नजदीकी सहयोगी, ताइवान भी न्यायाधिकरण के फैसले का विरोध कर चुका है। फैसले में क्षेत्र के सबसे बड़े द्वीप, हेतु अबा पर ताइवान के कब्जे को अवैध ठहराया गया है। जबकि ताइवान वहाँ 1956 से मौजूद है।

भारत को छोड़कर सभी दक्षिण पूर्वी देशों ने फैसले पर कूटनीतिक चुप्पी साध ली है। दक्षिणी पूर्वी राष्ट्रों के संघ (आसियान) के लगभग सभी देशों ने आपसी बातचीत के जरिये मुद्दे के समाधान की वकालत की है। लेकिन भारत ने फैसले का तत्काल स्वागत करके अपने लिए हास्यास्पद स्थिति बना ली क्योंकि इसी तरह का विवाद ‘सरक्रीक’ को लेकर भारत-पाकिस्तान के बीच है। इस विवाद में पाकिस्तान की कोशिशों के विपरीत, भारत अन्तरराष्ट्रीय न्यायाधिकरण में जाने का लगातार विरोध करता रहा है और मामले के द्विपक्षीय बातचीत के जरिये शिमला समझौते के अनुसार समाधान की माँग करता है।

दक्षिण चीन सागर में मुक्त नौवहन सबसे पहले खुद चीन की जरूरत है। इसकी ऊर्जा जरूरतों का 30 प्रतिशत इसी रास्ते से आयात होता है। अगर यहाँ अमरीका का वर्चस्व स्थापित हुआ तो यह चीन के लिए बहुत असुविधाजनक स्थिति होगी। दूसरी ओर अगर चीन का वर्चस्व कायम होता है तो बुढ़ाते अमरीका को धक्का लगेगा। यह भी तय है कि अभी न तो चीन और न ही अमरीका सैन्य टकराहट के पक्ष में है। चीन के प्रयासों से लग रहा है कि वह दक्षिण चीन सागरीय देशों को अमरीका के पीछे कतारबद्ध होने से रोकने के लिए उन्हें सागर में हिस्सेदारी और अन्य लाभ देने की नीति पर चलेगा। इस मुद्दे पर वह अमरीका से बढ़त बनाता प्रतीत हो रहा है।

भारत की अर्थव्यवस्था : तेज विकास दर की हकीकत

भारत की अर्थव्यवस्था के तेजी से विकास करने की भी बड़ी चर्चा है। इसे दुनिया की सबसे तेजी से विकास करती अर्थव्यवस्था बताया जा रहा है। इस विकास की असली कहानी भी जनता की जिन्दगी पर पड़ रहे इसके असर से ही समझनी होगी।

1991 में शुरू हुए आर्थिक 'सुधारों' से देश की अर्थव्यवस्था कितनी मजबूत हुई है उसकी असलियत जानने के लिए सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि, आयात-निर्यात के आँकड़े, मकानों-दुकानों की कीमतें, अरबपतियों की बढ़ती तादाद या सेंसेक्स-निफ्टी का उतार-चढ़ाव भ्रामक है। इन आँकड़ों के बजाय हम नेशनल न्यूट्रिशन मॉनिटरिंग ब्यूरो द्वारा किये गये सर्वे के नतीजों पर नजर डालें, जो बताते हैं कि इस दौर में गरीब लोगों को मिलने वाले भोजन की मात्रा लगातार घटी है। यह ब्यूरो 1972 में ग्रामीण जनता के पोषण पर नजर रखने के लिए स्थापित किया गया था। इसने 1975-1979, 1996-1997 तथा 2011-2012 में 3 सर्वे किये। इस अवधि में सरकारें लगातार तीव्र आर्थिक तरक्की की रिपोर्ट देती रही हैं इसलिए स्वाभाविक उम्मीद थी कि पोषण में सुधार होगा। लेकिन इसके विपरीत जमीनी असलियत यह है कि जनता को मिलने वाले भोजन की मात्रा बढ़ने के बजाय लगातार घटती गयी है।

देहाती भारत के आखिरी सर्वे 2012 के अनुसार 1979 के मुकाबले औसतन हर ग्रामीण को प्रतिदिन 550 कैलोरी, 13 ग्राम प्रोटीन, 5 मिग्रा आयरन, 250 मिग्रा कैल्सियम और 500 मिग्रा विटामिन ए कम उपलब्ध है। इसी तरह 3 वर्ष से कम

उम्र के बच्चों को 300 मिलीलीटर प्रतिदिन की आवश्यकता के मुकाबले औसतन 80 मिली दूध ही प्रतिदिन मिल पा रहा है। सर्वे यह भी बताता है कि जहाँ 1979 में औसतन दैनिक जरूरत के लायक प्रोटीन, ऊर्जा, कैल्शियम तथा आयरन उपलब्ध था, वहीं 2012 आते-आते सिर्फ कैल्शियम ही जरूरी मात्रा में मिल पा रहा है जबकि प्रोटीन दैनिक जरूरत का 85 प्रतिशत, ऊर्जा 75 प्रतिशत तथा आयरन मात्र 50 प्रतिशत ही उपलब्ध है। सिर्फ विटामिन ए ही एक ऐसा पोषक तत्व है जिसकी मात्रा 1979 के 40 प्रतिशत से 1997 में बढ़कर 55 प्रतिशत हुई थी लेकिन वह भी 2012 में घटकर दैनिक जरूरत का 50 प्रतिशत ही रह गयी। इसी का नतीजा है कि सर्वे के अनुसार 35 प्रतिशत ग्रामीण स्त्री-पुरुष कुपोषित हैं और 42 प्रतिशत बच्चे कम वजन वाले हैं।

यह तो औसत आँकड़ा है, गरीब जनसंख्या में तो हालात बेहद खराब हैं। आजीविका ब्यूरो द्वारा दक्षिण राजस्थान के गाँवों में किये गये एक दिन के सर्वे के अनुसार 50 फीसदी माँओं को दाल और एक तिहाई को सब्जी नसीब नहीं हुई थी, फल, अंडे या मीट तो खैर किसी को भी मिलने का सवाल ही नहीं था। नतीजा 50 फीसदी माँएँ और उनके बच्चे कुपोषित थे।

इस बुरी हालत की वजह क्या है? इस बारे में सर्वे में पाया गया कि असल में 1979 में सिर्फ 30 प्रतिशत लोग भूमिहीन थे जो अब बढ़कर 40 प्रतिशत हो गये हैं; मुख्यतः मजदूरी पर निर्भर परिवार 51 प्रतिशत हो गये हैं तथा 27 प्रतिशत गरीब किसान हैं जिनकी आमदनी बेहद कम है। उपजाऊ जोत वाले मालिक किसान पहले

से आधे रह गये हैं, यानी 3 चौथाई ग्रामीण जनसँख्या भी अब भोजन के लिए बाजार पर निर्भर है। अब सरकार पहले ही संसद को बता चुकी है कि महँगाई से सन्तुलन बैठने पर पर कृषि में मजदूरी की दर पिछले कई साल से घटने लगी है। साथ में यह भी ध्यान दें कि बाकी चीजों के मुकाबले खाद्य पदार्थों की महँगाई अधिक तेजी से बढ़ी है - 6.7 प्रतिशत के मुकाबले 10 प्रतिशत। खाद्य पदार्थों में भी दालों, वसा तथा सब्जियों के दाम ज्यादा तेजी से बढ़े हैं। निष्कर्ष यह कि ग्रामीण भारत का बहुलांश न तो अब पर्याप्त मात्रा में भोजन उगाने में समर्थ है और न ही खरीदने में। अतः अधिकांश लोगों के लिए दाल, सब्जी, फल, दूध, अंडा-मांस, आदि अब दुर्लभ पदार्थ बनते जा रहे हैं।

अगर विकसित देशों की बात को छोड़ भी दिया जाये और सिर्फ मीडिया द्वारा बराबरी के उभरते देश कहे जाने वाले ब्रिक्स (ब्राजील, रूस, चीन, दक्षिण अफ्रीका) के साथ भी तुलना की जाये तो भारत में कुपोषण की स्थिति ब्राजील से 13 गुना, चीन से 9 गुना और 1994 तक भयंकर रंगभेदी शासन झेलने वाले दक्षिण अफ्रीका से भी 3 गुना बदतर है। इस पर भी हमारे शासक कुपोषण को कोई ध्यान देने लायक समस्या नहीं मानते और उसके लिए कोई नीतिगत कदम नहीं उठाते। यहाँ तक कि 'सबका साथ सबका विकास' वाली मोदी सरकार ने तो 2015 में इस सर्वे संस्था को ही बन्द कर दिया है, ताकि ऐसी खतरनाक और परेशान करने वाली सच्चाइयाँ जाहिर ही न हों! पर सच का मुँह क्या इतनी आसानी से बन्द हो जायेगा?

-मुकेश त्यागी



निजी अस्पतालों की लूट और डाकाजनी

पूँजीवादी व्यवस्था की हिमायत में अक्सर तर्क दिया जाता है कि इसमें कड़ी मेहनत करने वाले प्रतिभाशाली लोग अपनी मेहनत का फल प्राप्त कर अमीर बनते हैं। खास तौर पर दवा उद्योग दवाइयों को लागत से 10-20 हजार गुना कीमत तक बेचने को लेकर भी यही तर्क देता है कि इतनी मेहनत से शोध कर नयी दवाइयाँ बनाने वालों को अगर यह मुनाफा नहीं मिलेगा तो दवाइयों का विकास रुक जायेगा! आइये कुछ असलियत देखें कि इन 'प्रतिभाशाली' और 'मेहनती' लोगों की प्रतिभा और कड़ी मेहनत की हकीकत क्या है।

पहले अस्पतालों का हाल। अपोलो और हीरानंदानी दो बड़े निजी अस्पतालों के किडनी खरीदने-बेचने के धंधे में शामिल होने का पर्दाफाश हो चुका है। अन्य कॉर्पोरेट अस्पतालों के भी ऐसे ही धंधे सामने आते रहते हैं। कुछ दिन पहले ही दो डॉक्टरों, डॉ. अरूण गडरे और डॉ. अभय शुक्ला की लिखी किताब 'डिसेंटिंग डायग्नोस्टिक्स' में बताया गया था कि कैसे गैर जरूरी ही नहीं बल्कि फर्जी ऑपरेशन (बेहोश करो, खाल काटकर सिल दो, बिल बनाओ, बस हो गया) किये जाते हैं क्योंकि इन अस्पतालों में डॉक्टर को टारगेट दिया जाता है कि देखे गये मरीजों के कितने प्रतिशत की सर्जरी या कोई और इलाज कराना है। डॉक्टरों द्वारा गैर जरूरी एक्स-रे, खून तथा अन्य जाँच कराने की बात तो सबको मालूम है ही, इन अस्पतालों में रेफर कर मरीज भेजने वाले डॉक्टरों को भी कमीशन मिलता है-- मुकेश अम्बानी के जिस अस्पताल का उद्घाटन प्रधानमंत्री मोदी ने किया था, कोकिलाबेन अस्पताल, वहाँ तो इसके लिए डॉक्टरों को बाकायदा रेट कार्ड /पैकेज डील

का ऑफर छपवाकर बाँटा जाता है। किताब में यह वर्णन भी है कि इन अस्पतालों में किसी मरीज का इलाज कैसे किया जाये इसका फैसला, जिस सुपर-स्पेशलिस्ट के नाम पर मरीज इलाज कराने जाता है वह डॉक्टर नहीं बल्कि एकाउंटेंट करते हैं जिसे चिकित्सा विज्ञान का कुछ अता-पता नहीं होता। दवाइयाँ और चिकित्सकीय उपकरण बाजार से कई गुना अधिक कीमत पर मरीजों को जबरदस्ती चिपकाये जाते हैं। जो लोग स्वास्थ्य जाँच के पैकेज लेते हैं वे भी सुनें-- इसमें बहुत सी जाँच के लिए जो सैम्पल लिये जाते हैं उनको टेस्ट करने के बजाय बस सिंक में बहा दिया जाता है! पैथोलोजिस्ट को पहले ही पता होता है कि यह टेस्ट सिर्फ पैसा लेने के लिए है, करने के लिए नहीं। कुछ दिन पहले मुम्बई के प्रसिद्ध डॉक्टर अनिरुद्ध मालपानी ने 'फर्स्टपोस्ट' में लेख लिखकर सालाना हेल्थ चेकअप के धन्धे की असलियत भी जाहिर की है कि कैसे यह भले-चंगे लोगों को मरीज बना रहा है, ताकि इन अस्पतालों में लूटने वाले बीमारों की कमी न पड़े।

अब एक दवा कम्पनी का हाल। जापान की डाइची को बेचे जाने से पहले तक रैनबैक्सी ऐसी भारतीय कम्पनी थी जिसके शोध की तारीफ करते कारोबारी तबका और मीडिया थकता नहीं था। लेकिन अब सिंगापुर में चले एक मुकदमे में कुछ और ही कहानी सामने आ रही है। 2004 में इसके बोर्ड की मीटिंग में इसके शोध-विकास प्रमुख राजेन्द्र कुमार ने एक अंदरूनी रिपोर्ट पेश की जिसके अनुसार इसने 40 देशों में 200 दवाइयाँ बेचने की मंजूरी पाने के लिए फर्जी शोध और उसके नकली आँकड़े और दस्तावेज तैयार किये

थे। इस पर बोर्ड के अध्यक्ष तेजेन्द्र खन्ना (ये बाद में दिल्ली के उपराज्यपाल भी बने) का कहना था कि क्या यह नकली दस्तावेज 'कहीं दफन' नहीं किये जा सकते! कम्पनी के मालिकों और बाकी बोर्ड का भी यही रवैया था। राजेन्द्र कुमार ने तो अगले दिन इस्तीफा दे दिया लेकिन इनके ही एक सहायक ने 2005 में यह अंदरूनी रिपोर्ट लीक कर दी जो अब 11 साल बाद सिंगापुर कोर्ट के एक गुप्त फैसले में सामने आयी। इस फैसले की खबर पहले इंडियन एक्सप्रेस ने 11 अगस्त को छापी थी लेकिन अब उसने यह खबर अपनी वेब साइट से हटा ली है।

अब सोचिये कि इतने भारी शोध से तैयार जितनी ही महँगी दवाइयाँ बाजार में आती जाती हैं, उतने ही लोग सेहतमंद होने के बजाय और बीमार हुए जाते हैं! वैसे अब इसके मालिकों ने एसआरएल डायग्नोस्टिक लैब खोल दी है जिसकी शाखाएँ पूरे देश में हैं और हम लोग उसमें इतनी महँगी जाँच भी कराते हैं, पर उन पर कितना भरोसा किया जाये, क्योंकि मुनाफा ही इनका एकमात्र देवता है जिसकी बलिवेदी पर ये किसी को भी चढ़ा सकते हैं। यही है पूँजीवादी व्यवस्था में "मेरिट से प्रतियोगिता में मुनाफा कमाओ, बड़े आदमी बनो" के सिद्धान्त की असली नंगी हकीकत!

-मुकेश त्यागी



कण-कण में घुलता विकास का विष

1983 में यूनिलीवर को मरकरी (पारा) के थर्मामीटर बनाने वाली अपनी न्यूयॉर्क की फैक्ट्री पर्यावरण को नुकसान पहुँचाने की वजह से बन्द करनी पड़ी। पर वही फैक्ट्री उठ कर आ गयी कोडाइकनाल में, क्योंकि हमारी सरकारें 'एज ऑफ ड्रुइंग बिजनेस' में पहले से ही यकीन करती आयी हैं। 2001 में पास के जंगलों और नदी को हुए भारी नुकसान की वजह से यह फैक्ट्री बन्द करनी पड़ी और यूनिलीवर ने माना कि उसने इन सालों में 13 क्विंटल मरकरी (झटका लगेगा, लेकिन सच है) वातावरण में छोड़ा था। मरकरी एक खतरनाक जहर है जिसे अगर 20 वर्ष तक 1 ग्राम प्रतिवर्ष वातावरण में छोड़ा जाये तो एक 20 एकड़ की झील इतनी जहरीली हो जायेगी कि उसकी मछलियाँ खाने लायक न रहेंगी।

इस फैक्ट्री को अब तक पूरी तरह साफ नहीं किया गया है और मरकरी इससे अभी भी रिस रहा है। इलाके की आबादी इसकी सफाई की माँग कर रही है। 2002 में यूनिलीवर ने कहा था कि वह इतनी

सफाई के लिए राजी है कि 1 किलोग्राम मिट्टी में 10 मिलीग्राम मरकरी ही बचे, जबकि खुद इसके अपने मुख्यालय लन्दन में 1 किग्रा मिट्टी में 1 मिग्रा मरकरी को ही सुरक्षित माना गया है। लेकिन 2007 में यह "नीरी" नामक एक भाड़े के संस्थान की रिपोर्ट ले आयी कि 20-25 मिग्रा मरकरी रहने से भी काम चलेगा। इस संस्थान के भाड़े के 'विशेषज्ञों' के अनुसार ज्यादा सख्त कायदे से कम्पनी को होने वाले नुकसान को भी ध्यान में रखना जरूरी है! सच बात है पूँजीवादी व्यवस्था में मुनाफे के सामने आम लोगों की जिन्दगी-सेहत की क्या कीमत! लेकिन स्थानीय जनता और विधायक के विरोध पर तमिलनाडु प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड ने 3 वैज्ञानिकों से मशविरा किया तो उन्होंने कम्पनी के दावे को पूरी तरह से गलत ठहराया। कम्पनी अब तक मद्रास उच्च न्यायालय में 20 मिग्रा से ज्यादा सफाई न करने का मुकदमा लड़ रही है।

अब आयी बारी 'मेक इन इण्डिया' के लिए 'एज ऑफ ड्रुइंग बिजनेस' वाली

सरकार के पर्यावरण मंत्री प्रकाश जावड़ेकर की। इन्होंने 29 दिसम्बर को एक पत्र लिखा जो 12 जुलाई को कम्पनी के दावे के समर्थन में अदालत में भी पेश किया गया है। मंत्री जी कहते हैं कि उनके मंत्रालय ने इस पर पूरा वैज्ञानिक मंथन कर लिया है, केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड व उनके मंत्रालय की ही वैज्ञानिक विशेषज्ञ समिति ने भी विचार कर तय किया है कि स्थानीय जनता बड़ी अवैज्ञानिक माँग कर रही है और यूनिलीवर की बात बिलकुल सही है कि 20 मिग्रा मरकरी रहने से कोई नुकसान नहीं होने वाला! और क्या बेचारी यूनिलीवर की जान ही ले लोगे, दिवाला ही निकलवाओगे क्या? बड़े कॉर्पोरेटों के लिए इतना 'एज ऑफ ड्रुइंग बिजनेस' करने के बाद जावड़ेकर साहब का प्रोमोशन तो बनता ही था न!

दरअसल सरकार का यह रवैया कोई नया नहीं है। अपने देश की जनता की जान जोखिम में डालकर, पर्यावरण का विनाश करके भी कॉर्पोरेट घरानों के हित साधना ही उनका एकमात्र मकसद है।



निजी कम्पनियों की लूट के अजब-गजब तरीके

रिलायंस गैस ट्रान्सपोर्टेशन इंफ्रास्ट्रक्चर लिमिटेड, मुकेश अम्बानी की कम्पनी है। यह कम्पनी शेयर बाजार में सूचीबद्ध नहीं है, मतलब इसका बही-खाता सीमित रूप से ही सार्वजनिक होता है। इसकी कहानी कॉरपोरेट सेक्टर में होने वाली लूट-खसोट का एक बड़ा उदाहरण है, जिस पर सरकारें बदलने से भी कोई असर नहीं पड़ता। मार्च 2003 में यह कम्पनी रिलायंस इंडस्ट्रीज के 100 प्रतिशत मालिकाने में बनायी गयी उसकी गैस के लिए 1400 किमी की पाइपलाइन बनाने के लिए।

लेकिन 2005 में पब्लिक कम्पनी रिलायंस इंडस्ट्रीज ने इसे सिर्फ 5 लाख रुपये (चौंकिए, लेकिन यही सच है) में मुकेश अम्बानी के निजी मालिकाने में बेच दिया।

2009-10 के बजट में प्रणब मुखर्जी द्वारा पेश बजट में आयकर कानून में एक नयी धारा 35 ए डी जोड़ी गयी जिसके अनुसार गैस या कच्चे तेल के लिए पाइपलाइन बनाने वाली कम्पनी का पहले साल का पूरा पूँजीगत खर्च आयकर के वास्ते उसकी आमदनी में से घटा दिया जायेगा। देश में यही इस प्रकार की अकेली

कम्पनी थी और अनुमान है कि खास इस कम्पनी के लिए हमारी महान 'जनतांत्रिक' संसद में सभी पार्टियों के सहयोग से बने इस विशेष कानून से इसे 20 हजार करोड़ का फायदा हुआ!

इसके बाद रिलायंस इंडस्ट्रीज ने गैस निकालनी शुरू की, जिसे ले जाने के एवज में मिली फीस से उस हेराफेरी करनेवाली कम्पनी को मुनाफा हुआ। रिलायंस इंडस्ट्रीज ने बाद के ऊँचे दाम के मुनाफे के लिए गैस निकालना ही कम कर दिया और इस खास कम्पनी ने घाटा घोषित करना शुरू

किया। इसी बीच एक और मामला आया। जब सिंगापुर की एक पूरी तरह कागजी कम्पनी (जिसका सिर्फ एक कमरे का दफ्तर है और कोई कारोबार का प्रमाण नहीं) ने इस कम्पनी में 6500 करोड़ रुपये का निवेश किया जो पूरी तरह संदिग्ध था।

खैर 2013-14 से अम्बानी की उस पाईपलाइन कम्पनी ने घाटा दिखाना शुरू किया। पिछले साल इस कम्पनी ने सरकारी बैंकों से कहा कि वह अपना 16 हजार

करोड़ का कर्ज जो 2019 तक वापस किया जाना था, नहीं दे सकती और उसके भुगतान का समय बदल दिया जाये। आमतौर पर यह छूट 2-3 से 5 साल तक मिलती है लेकिन इस कम्पनी के मामले में बैंकों ने इसके कर्ज के भुगतान की तारीख 2019 से बढ़ाकर सीधे 2031 कर दी है।

सिर्फ रिलायंस ही नहीं, ऐसे ही और बड़े-बड़े कॉरपोरेट की कहानी को बारीकी से जानें, तो ऐसे कितने ही और किस्से

सामने आयेंगे जो बतायेंगे कि इनकी यह भारी-भरकम पूँजी कहाँ से और कैसे इकट्ठा होती है; क्या कड़ी मेहनत, जोखिम उठाने और ईमानदारी से, जैसा कि कारोबारी और उनके मीडिया प्रशंसक बताते हैं या हर किस्म की लूट-खसोट, दौंवपेंच और शोषण से! साथ में यह भी समझ आता है कि आम जनता के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास, सफाई, आदि मर्दों के लिए सरकारों के पास हमेशा धन का अभाव क्यों रहता है।



7वें वेतन आयोग की सिफारिशें

कुछ दिन पहले 7वें वेतन आयोग की सिफारिशें लागू करने की घोषणा की गयी। कर्मचारियों की दृष्टि से, इससे निम्नतम और अधिकतम वेतन पाने वालों के बीच अन्तर और भी भयंकर हो गया है— अभी के 83 हजार रुपये से बढ़कर 2 लाख 38 हजार रुपये। साफ है कि निजी क्षेत्र की तरह ही सरकार भी समानता, न्याय, आदि के दिखावे के चोले को उतार फेंक रही है और कर्मचारियों के पिरामिड के ऊपरी हिस्से पर बैठे चंद अधिकारियों पर ही ज्यादा से ज्यादा सुविधाएँ केन्द्रित कर रही है। लेकिन अगर सरकार का सोचना है कि थोड़े लोगों के हाथ में ज्यादा धन केन्द्रित करने से बाजार में माँग पैदा करने का मकसद हल होगा, तो यह गलत है। क्योंकि कम आमदनी वाले को कुछ और धन मिले तो वह बाजार में उपभोगकर्ता वस्तुओं की खरीदारी कर माँग बढ़ायेगा, लेकिन पहले से अफरे पेट वालों को ही अगर और धन दे दें तो वह उपभोग की वस्तुओं में नहीं बल्कि सट्टेबाजी - शेयर बाजार, सम्पत्ति (दूसरी - तीसरी, जिसमें

उन्हें रहना नहीं है), आदि में लगेगा। इससे इन क्षेत्रों में कीमतें बढ़ेंगी और अर्थव्यवस्था का बुलबुला और फूलेगा लेकिन असली उत्पादन में विकास नहीं होगा और न रोजगार बढ़ेगा। बल्कि पहले ही अधिकांश जगहों पर अधिकांश लोगों की पहुँच से बाहर जा चुके घर और भी महँगे हो जायेंगे। याद रखें, ऐसे बुलबुले एक दिन फूटते हैं! अमरीका, यूरोप के उदाहरण सामने हैं।

वेतन आयोग का कहना है कि 18 हजार रुपये महीना का जो न्यूनतम वेतन है वह पति-पत्नी व 14 साल तक के 2 बच्चों को 3 उपभोक्ता इकाई मानकर उनके भोजन, वस्त्र, आवास, शिक्षा, चिकित्सा, आदि मूल जरूरतों की पूर्ति के लायक न्यूनतम खर्च पर आधारित है। इस गणित पर बहस हो सकती है लेकिन इतना तो तय है कि स्वयं सरकार की दृष्टि में इससे कम खर्च में इनसानी मर्यादा के लायक जीवन जीना सम्भव नहीं। तो सवाल यह है कि क्या देश के बाकी नागरिकों को ऐसा जीवन जीने का अधिकार नहीं? सरकार की जिम्मेदारी क्या सिर्फ सरकारी कर्मचारियों

तक सीमित है? निजी संगठित व असंगठित क्षेत्र में भी इतना ही न्यूनतम वेतन क्यों नहीं होना चाहिए? वहाँ यह सरकार 9,100 रुपये प्रतिमाह न्यूनतम वेतन की बात कर रही है और उसमें भी बहुत से उद्योगों को छूट दी जायेगी व सबसे बड़ी बात उसे लागू करने की बाध्यता के लिए कुछ नहीं किया जायेगा। साथ ही छोटे किसानों व खेत मजदूरों की भी न्यूनतम खर्च लायक आमदनी हो, उसको सुनिश्चित क्यों नहीं किया जाना चाहिए? असंगठित निर्माण मजदूरों की स्थिति तो यह है कि 1996 से सभी राज्य सरकारें इनके कल्याण के नाम पर बिल्डिंग सेल्स से 24 हजार करोड़ रुपये इकट्ठा कर के बैठी हैं लेकिन कल्याण के नाम पर कहीं कुछ नहीं हुआ!

अगर सरकारी कर्मचारियों को छोड़कर बाकी के लिए कुछ नहीं करना है तो सबका साथ, सबका विकास का क्या होगा? जो कांग्रेस के समाजवाद और गरीबी हटाओ का अब तक हुआ, वही!



एस्सार टेप काण्ड

मशहूर नीरा राड़िया टेप काण्ड की तरह इस बार एस्सार टेप काण्ड सुर्खियों में नहीं आ सका। यह खबरों में आया और गुजर गया। किसी ने खास ध्यान नहीं दिया। लेकिन यह टेप काण्ड हमारी व्यवस्था के एक खतरनाक पहलू को उजागर करता है, जिस पर ध्यान दिया जाना जरूरी है।

एस्सार टेलिकम्यूनिकेशन पर भारत की कई जानी-मानी हस्तियों के फोन टेप करने का आरोप है। 2010 में नीरा राड़िया टेप से पता चला था कि यूपीए सरकार के दौरान भारत गणराज्य बिक्री के लिए उपलब्ध था और ताजा खुलासे बताते हैं कि यह बिक्री दरअसल यूपीए सरकार से भी पहले वाजपेयी काल से जारी है। एस्सार कम्पनी अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार के समय से देश के बड़े नेताओं, अधिकारियों, कॉरपोरेट घरानों के प्रमुखों के फोन टेप करवा रही थी और यह टेपिंग हाल तक जारी रही। एस्सार के पूर्व सुरक्षा अधिकारी अलबासित खान को इन खुलासों को सामने लाने का श्रेय दिया जा रहा है। बताया जाता है कि खान को ही ये फोन टेप करने की जिम्मेदारी दी गयी थी। इन टेपों में दर्ज बातचीत की मूल प्रति के साथ सर्वोच्च न्यायालय के वकील सुरेन उप्पल ने प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी को शिकायत भेजकर मामले की पूरी जाँच करवाने का आग्रह किया है। उप्पल का दावा है कि खान ने उन्हें इस खुलासे के लिए अधिकृत किया है मगर खान ने ऐसा कोई अधिकार देने से इनकार किया है। वैसे उप्पल अपने दावे के पक्ष में कई ईमेल होने की बात कहते हैं।

खैर, टेपिंग किसी ने भी की हो इस टेपिंग से ज्यादा चिन्ताजनक टेप में कैद आवाजें और टेप की गयी बातचीत हैं।

इनमें जिन लोगों की आवाजें कैद हैं उनमें वाजपेयी सरकार के राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार ब्रजेश मिश्रा, वाजपेयी के दत्तक दामाद रंजन भट्टाचार्य, पूर्व केन्द्रिय मंत्री जसवंत सिंह, दिवंगत प्रमोद महाजन, यूपी के वर्तमान राज्यपाल राम नाईक, वर्तमान बिजली मंत्री पीयूष गोयल, रेल मंत्री सुरेश प्रभु, मुम्बई के सांसद कीरिट सोमैया और महाजन के करीबी सुधांशु मित्तल शामिल हैं। कॉरपोरेट जगत से मुकेश अम्बानी, अनिल अम्बानी और उनकी पत्नी टीना, रिलायंस इंडस्ट्रीज के निदेशक हेतल मेशवानी, अमिताभ झुनझुनवाला, मनोज मोदी, आनन्द जैन और सतीश सेठ आदि शामिल हैं। जिन सरकारी अधिकारियों के फोन टेप किये गये उनमें वाजपेयी के पीएमओ अधिकारी एन के सिंह और वर्तमान गृह सचिव राजीव महर्षि मुख्य हैं। इसके अलावा सहारा समूह के सुब्रत राय, अमिताभ बच्चन, समाजवादी पार्टी के प्रमुख मुलायम सिंह और अमर सिंह भी उस टेप में शामिल हैं। अगर इन आवाजों को सच मानें तो साफ है कि देश में हर चीज बिकने के लिए तैयार है। विधायिका, न्यायपालिका और कार्यपालिका जैसे लोकतंत्र के खम्भे अम्बानी जैसे पूँजीपतियों के आगे कठपुतली की तरह नाचने पर आमामादा है। नेताओं, पूँजीपतियों और नौकरशाहों की मिलीभगत से सारे खम्भे बाजार के एक माल की तरह बिकने के लिए तैयार बैठे हैं।

1 दिसम्बर 2002 को मुकेश अम्बानी और रिलायंस इंडस्ट्रीज के ही एक निदेशक सतीश सेठ के बीच बातचीत से जाहिर होता है कि वे प्रमोद महाजन की मदद से सर्वोच्च न्यायालय को नियंत्रित करने की फिराक में थे। यही नहीं 28

नवम्बर 2002 को अमर सिंह और समता पार्टी के सांसद कुँवर अखिलेश सिंह की बातचीत के टेप से यह खुलासा हुआ कि केतन पारेख घोटाले और ग्लोबल ट्रस्ट बैंक से जुड़े विवाद में संयुक्त संसदीय समिति की जाँच को अमर सिंह ने रिलायंस के पक्ष में मैनेज कर दिया था।

यह तो कुछ उदाहरण मात्र हैं। दरअसल ऐसी बातचीत सैकड़ों की संख्या में इन टेपों में दर्ज है। जाँच सिर्फ फोन टेपिंग की ही नहीं बल्कि उसमें दर्ज बातचीत की भी हो तो इस व्यवस्था की सच्चाई जनता के सामने आये। एक तरफ देश की मेहनत-मजदूरी करने वाली जनता के लिए दो वक्त की रोटी जुटा पाना मुश्किल हो रहा है, किसान कर्ज के बोझ तले आत्महत्या कर रहे हैं वहीं दूसरी तरफ ये सरकारें पहले से ही खाये-अघाये पूँजीपतियों को सभी नियम-कानून ताक पर रखकर अकूत मुनाफा पहुँचाने में लगी है। ऐसी स्थिति में सवाल उठना लाजमी है, क्या ये तथाकथित लोकतांत्रिक सरकारें और ये व्यवस्था वाकई जनता के हित में काम कर रहीं हैं? अगर नहीं तो क्या इस व्यवस्था से जनता का भरोसा उठ जाना लाजमी नहीं है?

-कवीन्द्र



ब्रेक्सिट : ब्रिटेन का यूरोपीय संघ से बाहर जाना

वैश्वीकरण के मौजूदा दौर में माली रूप से मजबूत किसी देश में राजनीतिक उथल-पुथल होने का असर पूरी दुनिया पर पड़ता है। पिछले दिनों ब्रिटेन के यूरोपीय यूनियन से निकलने के पक्ष में जनमत की खबर सुनकर पूरी दुनिया में खलबली मच गयी, शेयर बाजार में गिरावट दर्ज की गयी। डॉलर के मुकाबले ब्रिटिश मुद्रा पाउंड 5 प्रतिशत गिर गयी। इसे 1985 के बाद सबसे बड़ी गिरावट बताया गया। ब्रिटेन के यूरोपीय यूनियन से निकलने के पक्ष में जनमत से आहत होकर ब्रिटेन के प्रधानमंत्री डेविड कमेरून ने इस्तीफा दे दिया। जनमत का असर भारतीय बाजारों पर भी देखा गया। सेंसेक्स 900 और निफ्टी 236 अंक तक गिरा। सेंसेक्स तो आठ सौ अंक की गिरावट के साथ ही खुला था। ब्रिटेन में 800 भारतीय कम्पनियाँ हैं। ब्रिटेन जो भी फैसला करेगा, उसका असर इन कम्पनियों पर पड़ेगा। इसी वजह से भारतीय शेयर बाजार में हलचल देखी जा रही है।

यूरोपीय यूनियन यूरोप के 28 देशों का एक राजनीतिक और आर्थिक मंच है जिनमें आपस में प्रशासकीय साझेदारी होती है। यूरोपीय संघ सदस्य राष्ट्रों को एकल बाजार के रूप में मान्यता देता है और इसके कानून सभी सदस्य राष्ट्रों पर लागू होता है, जो सदस्य राष्ट्र के नागरिकों की चार तरह की स्वतंत्रताएँ सुनिश्चित करते हैं— नागरिकों, सामान, सेवाएँ एवं पूँजी का स्वतंत्र आदान-प्रदान। 1999 में यूरोपीय संघ ने साझी मुद्रा यूरो की शुरुआत की जिसे पन्द्रह सदस्य देशों ने अपनाया। संघ ने साझी विदेश, सुरक्षा, न्याय नीति की भी घोषणा की।

ब्रिटेन और यूरोपियन संघ : संघ में शामिल होने को लेकर ब्रिटेन में पहले से ही मतभेद थे। यूरोपीय संघ के गठन के समय ब्रिटेन यूरोपीय देशों को यूरोपीय

यूनियन में एक साथ होते देखता रहा लेकिन उसने यूरोपीय संघ का सदस्य बनने में कोई दिलचस्पी नहीं दिखायी लेकिन पाँच साल के अन्दर ब्रिटेन को समझ में आ गया कि यूरोपीय यूनियन में शामिल होने से ही उसका फायदा है। उस समय ब्रिटेन में कंजर्वेटिव पार्टी सत्ता में थी। प्रधानमंत्री हेरॉल्ड मैकमिलन ने यूरोपीय संघ में ब्रिटेन को शामिल करने की कोशिशें शुरू कर दी लेकिन विपक्षी लेबर पार्टी उनके इस फैसले का विरोध करने लगी। हेरॉल्ड विपक्ष को मनाने में ही जुटे थे कि फ्रांस के राष्ट्रपति चार्ल्स द गॉल ने ब्रिटेन के प्रस्ताव को रोक दिया और ब्रिटेन की यूरोपीय संघ में शामिल होने की उम्मीद पूरी तरह खत्म हो गयी।

इसके बाद 1973 में कंजर्वेटिव पार्टी के अगले प्रधानमंत्री एडवर्ड हीथ ने काफी प्रयासों के बाद ब्रिटेन को यूरोपियन यूनियन में शामिल करा दिया। लेकिन 1974 में लेबर पार्टी सत्ता में आयी और उसमें यूरोपीय यूनियन में रहने को लेकर दो गुट बन गये। एक गुट यूरोपीय यूनियन के साथ रहना चाहता था तो दूसरा यूनियन से बाहर निकलना। इसी बात को लेकर 1975 में ब्रिटेन के इतिहास में पहली बार किसी मुद्दे पर जनमत संग्रह कराया गया। इस जनमत संग्रह में जनता ने यूरोपीय यूनियन के साथ रहने के पक्ष में वोट दिया। 1980 में लेबर पार्टी के कुछ नेताओं ने सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के नाम से नयी पार्टी बना ली और विरोध करते रहे।

ब्रिटेन के संघ में रहने से उसे होने वाले नुकसान या फायदे की बात करें तो पिछले साल ब्रिटेन ने यूरोपिय संघ की सदस्यता शुल्क के रूप में 13 अरब पाउंड जमा किये थे और बदले में 4.5 अरब पाउंड का अनुदान हासिल किया था। यानी 8.5 अरब पाउंड का नुकसान। इस साल

के जनमत संग्रह में 52 फीसदी लोगों ने अलग होने के पक्ष में वोट देकर ब्रिटेन के संघ से अलग होने का रास्ता साफ कर दिया। इसके चलते ब्रिटेन 8.5 अरब पाउंड की बचत कर सकेगा। यह राशि ब्रिटेन द्वारा राष्ट्रीय स्वास्थ्य पर किये जाने वाले खर्च का केवल 7 प्रतिशत है। साथ रहते हुए फायदा और नुकसान दोनों उठाना पड़ता है। यूरोपीय संघ से निकलने के बाद ब्रिटेन अन्य देशों के साथ सम्पन्न उन समझौतों से फायदा नहीं उठा सकेगा जो उसमें रहते हुए उसे मिल रहा था। इसके बदले वह अपने समझौते करने के लिए आजाद हो गया है। जाहिर सी बात है, संघ से निकलने के बाद ब्रिटेन की मोल भाव करने की ताकत घट जायेगी। उम्मीद यह भी है कि वह कनाडा या नार्वे के उदाहरण का अनुसरण करे। हो सकता है कि वह नार्वे के क्लब का सदस्य बन जाय।

विस्थापन की समस्या पर बात करें तो यूरोपीय संघ के नागरिक स्वतंत्रता के साथ संघ के देशों में जाकर रह सकते हैं और नौकरी कर सकते हैं। सदस्य राष्ट्रों के बीच श्लेगन सन्धि के तहत पासपोर्ट नियंत्रण भी समाप्त कर दिया गया था। पूर्वी यूरोप, रोमानिया और बुल्गारिया के 9.42 लाख मेहनतकश इंग्लैंड में काम कर रहे हैं जबकि 7.91 लाख लोग पश्चिमी यूरोप के संघ के बाहर के देशों से हैं। चीन और भारत से सबसे अधिक मजदूर इंग्लैंड में काम करते हैं। एक अनुमान के मुताबिक यूरोपीय संघ से निकलने के बाद उन 10 लाख ब्रिटिश नागरिकों को अपनी नौकरियों से हाथ धोना पड़ सकता है जो यूरोपीय संघ के अलग-अलग देशों में काम करते हैं। इस जनमत संग्रह के बाद से ही ब्रिटेन के लोग असमंजस में हैं क्योंकि भविष्य अनिश्चित है।

-कवीन्द्र



बात एकता-अखंडता की, काम समाज को तोड़ना

भाजपा सरकार को केन्द्र की सत्ता में आये दो साल से अधिक समय बीत गया। इस अवसर पर पार्टी ने अपनी उपलब्धियों को गिनाने के लिए टीवी, समाचार-पत्रों, भाषणों, पत्र-पत्रिकाओं आदि के माध्यम से लोगों के बीच अपनी साफ-सुथरी छवि पहुँचाने की पुरजोर कोशिश की है। लेकिन इन दो सालों में सरकार ने अपने विभाजनकारी विचार फैलाने पर जितना जोर दिया, उतना ध्यान जनता की मूलभूत समस्याओं को हल करने पर नहीं दिया। भाजपा पूरी तरह से संघ की विचारधारा पर चलती है और उसके हिन्दुत्ववादी एजेण्डे को बढ़-चढ़कर लागू करती है। साम्प्रदायिक नफरत और हिंसा फैलाना, मुस्लिमों, ईसाइयों के खिलाफ जहर उगलाना, सर्वोच्च शिक्षण संस्थानों में योग्यता को ताक पर रखते हुए अपने लोगों की भर्ती करना, लव जेहाद, घर वापसी, गोरक्षा, युद्धोन्माद और अन्धराष्ट्रवाद भड़काना इनकी प्रमुख नीतियाँ हैं।

कट्टरपंथी विचारधारा से लैस हिन्दुत्ववादी संगठनों के बुद्धिजीवी अपनी बेसिर-पैर की बातों और अफवाहों के जरिये तनावपूर्ण मोहल बनाने में दिन-रात जुटे रहते हैं। भाजपा हिन्दू-मुस्लिम के नाम पर वोट का धुवीकरण करती है। पिछले दो साल के कार्यकाल में एक तरफ लव जिहाद, घर वापसी और गोरक्षा का अभियान चलाना और दूसरी तरफ देशी-विदेशी पूँजी के हित में नीतियाँ बनाना, इनका खास एजेंडा रहा है। साम्प्रदायिक राजनीति का विरोध करनेवालों और सरकार की जनविरोधी नीतियों के खिलाफ आवाज उठानेवालों को देशद्रोही घोषित करना या उन्हें पाकिस्तान भेजने की धमकी देने में बड़े नेताओं से लेकर आम कार्यकर्ताओं तक, कोई पीछे नहीं रहता। हिन्दुत्ववादी नीतियों को आगे

बढ़ाने के लिए अन्धविश्वास से लड़ने और तर्कशीलता को बढ़ावा देनेवाले लोगों को मौत के घाट उतार देने की घटनाएँ सामने आयी हैं।

हिन्दुत्ववादी संगठन खुद को देशभक्त और राष्ट्रवादी संगठन बताते हैं। राष्ट्रवाद का आधार देश के भीतर जाति, धर्म, नस्ल, क्षेत्र, भाषा इत्यादि के भेदभाव से ऊपर उठकर सम्पूर्ण जनगण की एकता है। लेकिन उनके राष्ट्रवाद की परिभाषा क्या है? ये संगठन हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति और हिन्दू समाज की रक्षा और हिन्दू राष्ट्र की बात करते हैं। उनका राष्ट्रवाद बहुलतावादी, सबको साथ लेकर चलनेवाला नहीं, बल्कि संकीर्णता और असहिष्णुता पर आधारित है। संविधान में लिखी गयी बातों से इनका दूर-दूर तक कोई वास्ता नहीं है। धर्मनिरपेक्षता और जनतांत्रिक मूल्यों को ये कदम-कदम पर नकारते हैं। इनका हिन्दू समाज भी अलग ही है। हिन्दुओं से इनका मतलब केवल उच्च जाति के हिन्दुओं से है, दलितों को बराबरी का दर्जा देने के ये खिलाफ हैं।

मजदूरों के प्रति इनका नजरिया दमन-उत्पीड़न और निर्मम शोषण को बरकरार रखने का रहा है। भाजपा सरकार ने श्रम कानूनों में बदलाव करके मजदूरों के अधिकारों को काफी कम किया है और श्रम विभाग को लगभग समाप्त कर दिया गया है। मोदी जी कहते हैं कि गुजरात में श्रम विभाग की कोई आवश्यकता नहीं है! जाहिर है कि मजदूरों के लिए लाठियों-बन्दूकों से लैस पुलिस, सशस्त्र बल और पूँजीपतियों के लठैत तो हैं ही। फिर विवाद निपटाने के लिए श्रम विभाग की क्या जरूरत है?

औरतों की हर प्रकार की स्वतंत्रता को समाप्त कर उन्हें चूल्हे-चौखट की जिम्मेदारी और केवल बच्चा पैदा करने और

पालने-पोसने तक सीमित कर देना चाहते हैं। श्रीराम सेना, बजरंग दल, विश्व हिन्दू परिषद के लठैत लड़कियों के प्रेम करने, अपनी इच्छा से अपना जीवन साथी चुनने, यहाँ तक कि जींस पहनने और मोबाइल इस्तेमाल करने तक पर पाबन्दी लगाने की बात करते हैं।

पूरे देश में हिन्दुत्ववादी संगठन काम कर रहे हैं। भारतीय समाज की जटिलता किसी भी दूसरे समाज से अधिक है। हमारे समाज में आज भी लोग सड़ी-गली मानसिकता के साथ गलाजत भरी जिन्दगी जीने को अभिशप्त हैं। हिन्दुत्ववादी संगठन एक तरफ सभ्यता और संस्कृति की दुहाई देते फिरते हैं, दूसरी तरफ पूँजीपतियों से साँठ-गाँठ करके उनके पैसे पर सरकार बनाते हैं और उनके ही स्वार्थों की पूर्ति करते हैं। पूँजीपति महिलाओं के जिस्म की नुमाइश करके अपने प्रोडक्ट धड़ल्ले से बेच रहे हैं। महिलाओं को देवी का रूप बताने वाले संगठन इस मामले में चुप क्यों हैं? वे इस मुद्दे पर पूँजीपतियों का विरोध क्यों नहीं करते? आज हिन्दुत्ववादी विचारधारा को लागू करने वाली पार्टी केन्द्र में है। फिर भी जनता और पूँजीपतियों के लिए अलग-अलग मानदंड क्यों हैं? हिन्दुत्ववादी पार्टी को पूँजीपतियों की तिजोरी से आने वाले पार्टी फण्ड के लेन-देन का रिश्ता जग जाहिर है।

भारत में हजारों तरह की जातियाँ हैं। कई तरह के धर्म हैं। हर जाति की अलग जीवन शैली है। गाँव के स्तर पर जाकर देखने पर पता चलता है कि एक ही जाति के अन्दर अलग-अलग इलाके में अलग आचार-व्यवहार है। देवी-देवताओं में अन्तर है। खान-पान, रहन-सहन और पहनने-ओढ़ने के तरीके भी अलग हैं।

इतनी जटिल सामाजिक संरचना के बाद भी हिन्दुत्ववादी संगठन अपनी विचारधारा को सब पर थोपने के सपने देखते हैं। धार्मिक आधार पर संगठन का निर्माण करना और उसे पूरे देश के लोगों के ऊपर लेबल की तरह चिपका देना, यही इन संगठनों की कार्यशैली रही है। अगर आप इनकी विचारधारा को नहीं मानते तो आप को हिन्दू विरोधी, देशद्रोही और विकास विरोधी करार दिया जाता है।

ये हिन्दुत्ववादी संगठन देश को हिन्दुराष्ट्र बनाना चाहते हैं और इसके लिए बहुत मेहनत कर रहे हैं। निचले स्तर के नये कार्यकर्ता लगातार अपनी स्थानीय माँगों के कारण ही हिन्दुत्ववादी संगठनों में शामिल होते हैं। स्थानीय माँगों को लेकर आने वाले कार्यकर्ता लोगों के बीच की माँग को उठाते हैं। लोकसभा चुनाव 2014 में भाजपा केन्द्र में आयी। जिसमें स्थानीय कार्यकर्ताओं ने खूब सपने देखे और लोगों से बहुत सारे वायदे किये। कई जगह राज्य और केन्द्र दोनों जगह पर भाजपा सरकार होने के बावजूद ये संगठन जनता की स्थानीय समस्याओं को सुलझाने में असमर्थ रहें हैं। हिन्दुत्ववादी विचारधारा अपने आप में कोई

ठोस विचारधारा नहीं है, जो लोगों को एक सूत्र में पिरो सके। अलग-अलग संगठनों की स्थानीय माँग अलग है। जिसके चलते पूरे देश की एकता तो इनके लिए दूर की कौड़ी है। आपस की एकता बनाना भी आज हिन्दुत्ववादी संगठनों के लिए बड़ी चुनौती है। पिछले दिनों गोवा के स्थानीय कार्यकर्ताओं और संघ के लोगों में स्थानीय भाषा को लेकर मतभेद के चलते गोवा के संघ प्रमुख सुभाष वेलिंगकर को संघ ने निकाल बाहर किया। सुभाष के साथ उनके तैयार किए हुए 400 कार्यकर्ताओं ने संघ से इस्तीफा दे दिया जो इस बात का संकेत है कि संघ के एजेण्डे में और विचारधारा में भारी मतभेद है।

देशभर में धार्मिक कलह से आगे, अब जातियों के बीच भी नफरत बढ़ती जा रही है। केन्द्र और राज्य दोनों में भाजपा शासन के अधीन हरियाणा में जातीय दंगे, गुजरात में पटेल समुदाय का आन्दोलन और दलित उत्पीड़न की घटनाएँ तथा महाराष्ट्र में मराठों का दलित समुदाय के खिलाफ एकजुट होना किस ओर संकेत करता है? क्या भारतीय समाज का ताना-बाना टूट रहा है? कर्नाटक और

तमिलनाडु के पानी के मसले को सुलझाने के बजाय केन्द्र सरकार मूक दर्शक बनी हुई है। यहाँ तो हिन्दू-मुस्लिम की बात नहीं है। महँगाई और बेरोजगारी आसमान छू रही हैं। किसानों की आत्महत्या पर केन्द्र सरकार कोई कदम नहीं उठा रही है। उलटे कॉरपोरेट खेती और विदेशी कम्पनियों को बढ़ावा दे रही है। कश्मीरी जनता के मन में असन्तोष और अविश्वास गहराता जा रहा है। असम में हिंसा का तांडव रह रहकर विनाशालीला रच जाता है। गरीबी-अमीरी की बढ़ती खाई पर हिन्दुत्ववादी चुप्पी साध जाते हैं। मानव सूचकांक में भारत का स्थान दुनिया के निर्धनतम देशों से भी नीचे है। जाहिर है कि ये समस्याएँ भाजपा की गढ़ी हुई नहीं हैं। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसकी संकीर्ण, असहिष्णु और पूँजीपरस्त विचारधारा ने इन समस्याओं को हल करने के बजाय इनको और बढ़ाया ही है।

किसी भी समाज की जटिलताओं को समझे बिना जाति, धर्म, सम्प्रदाय विशेष के आधार पर कोई सरकार भले ही बन जाये, देश नहीं बनता है।

-अनुराग



दिल्ली के एक शिक्षक की जघन्य हत्या से उठे सवाल

पश्चिमी दिल्ली के नांगलोई इलाके के एक सरकारी स्कूल में 26 सितम्बर को शाम की शिफ्ट में परीक्षा चल रही थी। स्कूल में परीक्षा पूरी कराने के बाद हिंदी शिक्षक मुकेश मुद्गल कॉपियाँ समेट रहे थे। इसी दौरान उसी स्कूल के 12वीं कक्षा के दो छात्र वहाँ आये और शिक्षक पर ताबड़तोड़ हमले शुरू कर दिये। एक छात्र ने चाकू से उनके पेट पर वार किया तो दूसरे ने लोहे के पंच से उन पर हमला किया। इसके बाद अध्यापक ने भागने की

कोशिश की तो आरोपियों ने उनकी जांघ और पीठ में भी चाकू घोंप दिया। वारदात को अंजाम देकर दोनों आरोपी छात्र मौके से फरार हो गये। बुरी तरह लहलुहान अध्यापक मुकेश को अस्पताल में भर्ती कराया गया, जहाँ करीब चार घंटे तक इलाज के बाद उन्होंने दम तोड़ दिया।

आखिर इस घटना को उन छात्रों ने ऐसा अंजाम क्यों दिया? दरअसल दोनों आरोपी छात्र दो बार फेल हो चुके थे। दोनों ही छात्र बहुत ही कम स्कूल आते थे

जिसके चलते कक्षा में उनकी उपस्थिति भी काफी कम थी। इस वजह से दोनों का कई बार नाम भी कटता रहता था। कम हाजिरी के कारण परीक्षा में बैठने से मना कर दिया गया था, क्योंकि 75 प्रतिशत से कम हाजिरी होने पर छात्रों को परीक्षा में बैठने की अनुमति नहीं दी जाती। गुनाह की सजा अपने गुरु को देने के लिए (जो उन्होंने किया ही नहीं था) दोनों सोमवार को स्कूल पहुँचे और इस वारदात को अंजाम दिया। एक शिक्षक की जघन्य हत्या के

बाद शिक्षकों में काफी गुस्सा है। शिक्षकों ने इस घटना के विरोध में बड़ी लड़ाई का मन बनाया। उधर आरोपी छात्रों के खिलाफ केस दर्ज करके पुलिस के आला अधिकारियों ने देर रात स्कूल पहुँचकर घटनास्थल का मुआयना भी किया और उन्हें 12 घंटे के अन्दर गिरफ्तार भी कर लिया। दोनों में से एक छात्र नाबालिग है और दूसरा यानी चाकू से वार करने वाला 18 वर्ष 8 महीने का है। 46 साल के मुकेश पिछले चौबीस सालों से अध्यापन कार्य कर रहे थे। मुकेश के परिवार में तीन बच्चे और बीवी हैं। उनका जीवन संघर्ष में गुजरा है, 27 वर्ष पहले उनके पिता का देहान्त हो गया था जिसके चलते उन्होंने छोटे भाई बहनों को पढ़ा-लिखाकर उनकी शादी तक की जिम्मेदारी निभायी।

अपने साथी मुकेश कुमार की निर्मम हत्या के आक्रोश में काफी संख्या में शिक्षक नांगलोई राजमार्ग पर इकट्ठा हुए। पूरे दिन दिल्ली और हरियाणा की सड़कों और राजमार्ग को जाम करके शिक्षकों ने शासन, सत्ता और विभाग को अपनी एकता और अपने शान्ति पूर्ण आन्दोलन की क्षमता का परिचय दिया। आन्दोलन इतना सन्तुलित और लोकतांत्रिक था कि सरकार को उनके सामने झुकना ही था। पन्द्रह हजार की संख्या में एकत्रित शिक्षकों ने जिस एकता का परिचय दिया, वह एक मिसाल बन गयी।

28 सितम्बर को सुबह शिक्षकों ने परीक्षा का विरोध करके विभाग की नींद हराम कर दी थी। नियत समय पर मुख्यालय पहुँच जिस साहस का परिचय दिया वो अपने आपमें एक मिशाल है। एक विशाल आन्दोलन और ऐतिहासिक आन्दोलन की नींव रखी गयी। लेकिन दुःख की बात ये है कि कुछ अति महत्वाकांक्षी राजनितिक लोगों ने शिक्षक संगठन की मूलभूत भावना से ऊपर जाकर एक समझौता शिक्षा निदेशक से किया जिससे संघर्ष के परिणाम ही बदल गये। समझौते को पढ़ने पर, उसके मिनेट्स का अध्ययन करने पर विदित होता

है कि कल सुबह की स्थिति में और इस समझौते के बाद की स्थिति में कोई अन्तर नहीं है। जहाँ से शिक्षक साथी संघर्ष के रास्ते पर चले थे आज भी वहीं पर खड़े हैं।

इतिहास गवाह है कि इस तरह का जन सैलाब हमेशा इकट्ठा नहीं होता और न ही आन्दोलन इतनी आसानी से खड़े होते हैं। हत्या तो एक छात्र ने की लेकिन उससे भी निर्मम हत्या के दोषी शिक्षक संगठन के वे पदाधिकारी हैं जिन्होंने शिक्षकों के विश्वास को तोड़ा। शिक्षकों का मन अन्दर तक आहत है।

इस आन्दोलन की मूल माँगें अभी जस की तस हैं। संघर्ष के रास्ते से समस्या की जड़ों पर प्रहार किया जाना जरूरी था जिनसे इस तरह के हालात पनपते हैं और जिनके चलते मुकेश जैसे साथी को जान गँवानी पड़ती है। इन कारणों में एक है शिक्षा का अधिकार कानून की वे तमाम खामियाँ जो छात्रों को बिना पढ़े, बिना परीक्षा में सफल हुए अगली कक्षा में प्रोन्नत करती हैं, जो छात्रों में मेहनत, लगन, निष्ठा और अध्यापकों के प्रति सम्मान को खत्म करती है।

चाणक्य ने कहा था-- “यदि मेरी शिक्षा में सामर्थ्य है तो अपना पोषण करने वाले सम्राटों का निर्माण मैं स्वयं कर लूँगा।” आज स्थिति यह है कि वर्तमान सरकार (सम्राट) को शिक्षा से कोई लेना-देना न होकर सत्ता की आड़ में एनजीओ को पोषित करना है, जो शिक्षा में गुणवत्ता के नाम पर उसके साथ खिलवाड़ कर रहे हैं। विद्यालय प्रबन्धन कमिटी (एसएमसी) का गठन सीखने की प्रक्रिया को और विद्यालय को सुधारने के लिए बेहद प्रभावी साधन हो सकता है लेकिन यदि उसका उद्देश्य सुधार न होकर मात्र राजनीति हो और मनेजमेंट कमिटी में चयनित व्यक्ति खुद शिक्षण विधियों, विद्यालय कार्यों से अनभिज्ञ हो तो इस तरह के प्रयोगों से शिक्षा में गुणात्मक सुधार न आकार हत्या जैसे जघन्य अपराधों की संख्या में ही इजाफा हो सकता है। लिहाजा

शिक्षकों की माँग थी की एसएमसी की बढ़ायी गयी शक्तियों को तत्काल प्रभाव से निरस्त किया जाये, जिस पर कार्रवाई का कोई आश्वासन शिक्षकों को नहीं मिला। निदेशिका महोदया ने इसे सरकारी नीति कहकर अपना पल्ला झाड़ लिया, यह जानते हुए भी कि इस संस्था से मात्र सरकारी खर्च ही बढ़ा है। अलबत्ता छात्रों का इससे कोई हित होता प्रतीत नहीं होता। शिक्षकों की दूसरी बड़ी माँग थी-- स्कूल में अध्यापक छात्र अनुपात 1:35 किया जायें, जो शिक्षा का अधिकार कानून का मूल बिन्दु भी है और गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की जरूरत भी। इसका एक बड़ा फायदा छात्रों को होने के साथ-साथ खाली पड़े पदों पर नियुक्ति का निवारण भी है।

शिक्षकों का मानना है कि सरकार द्वारा चलाया गया कार्यक्रम चुनौती-2018 मुकेश जैसे शिक्षक साथी की हत्या के मूल कारणों में से प्रमुख है जिसमें मनोविज्ञान और दर्शनशास्त्र को धता बताकर बच्चों के शिक्षण-अधिगम के स्तर पर प्रतिभा, निष्ठा और विश्वास समूह का बनाना है। जो बच्चों में हीन भावना पैदा करता है। चुनौती-2018 पर न ही सरकार अभी स्पष्ट नीति ही बना पा रही है न ही उसके पास कोई ऐसी योजना है जिससे कहीं किसी स्कूल या संस्थान में प्रयोग के दौरान सकारात्मक परिणाम मिले हों। शिक्षकों ने इस अव्यवहारिक प्रयोग के आधार पर छात्रों के ज्ञान के स्तर पर बनाये गये गैर-मनोवैज्ञानिक समूह को समाप्त किये जाने की माँग सरकार और विभाग के सम्मुख रखी ताकि शिक्षा के दर्शन की मूल भावना बनी रहे। सरकार इन सब बातों को नजरअंदाज करके अध्यापकों का शोषण और अति दोहन करते रहने के अपने इरादों पर अमादा है। अफसोस तब अधिक होता है जब सभी उठाये गये मुद्दों के हल से पहले ही एक संगठित आन्दोलन को खत्म करने का प्रयास किया जाता है और कुछ अवसरवादी लोगों के चलते बड़े आन्दोलन

फुसस हो जाते हैं। जब तक इन समस्याओं का समाधान नहीं हो जाता तब तक शिक्षकों को चुप नहीं बैठना चाहिए।

सरकारों का चरित्र ही होता है आन्दोलन को कुचलना, लेकिन शिक्षकों को चाहिए कि अब संगठन के पदाधिकारियों पर विश्वास न करके बड़े लोकतांत्रिक

आन्दोलन को आगे बढ़ायें और एक अंजाम तक ले जाने में अपनी पूरी ताकत लगा दें। इतिहास गवाह है कि हक की लड़ाई इतनी आसान नहीं होती और निरंकुश सरकारें प्लेट में रखकर अधिकार नहीं देतीं, उसके लिए संघर्ष ही एकमात्र रास्ता बचता है। यदि शिक्षकों के छोटे-बड़े सभी संगठन,

मजदूर संघ, ट्रेड यूनियनों, दिल्ली की जागरूक जनता, बेहतर शिक्षा की आस में बैठे अभिभावक सब मिलकर संघर्ष करें और आन्दोलन को आगे बढ़ायें तभी बेहतर शिक्षा व्यवस्था और अध्यापकों की सुरक्षा की गारण्टी हो सकती है।

-सन्दीप तोमर



मुस्लिमों को छोड़ अन्य सभी प्रवासियों को नागरिकता देना चाहती है मोदी सरकार!

फरवरी 2014 की बात है, लोकसभा चुनाव होने ही वाले थे। भाजपा की ओर से नरेन्द्र मोदी को प्रधानमंत्री पद का उम्मीदवार घोषित किया जा चुका था। वे देश भर में घूम-घूमकर लोगों से भाजपा को वोट देने की अपील कर रहे थे। 22 फरवरी को वे असम के सिलचर में थे। यहाँ बांग्लादेशी शरणार्थियों का मुद्दा काफी अहम रहा है। इसी पर बोलते हुए नरेन्द्र मोदी का कहना था कि 'बांग्लादेश से दो तरह के लोग भारत में आये हैं। एक शरणार्थी हैं जबकि दूसरे घुसपैठिये। यदि दिल्ली में हमारी सरकार बनती है तो हम बांग्लादेश से आये हिन्दू शरणार्थियों को नागरिकता देने के साथ ही घुसपैठियों को यहाँ से बाहर खदेड़ने का भी वादा करते हैं।'

मोदी सरकार इस वादे को पूरा करने के लिए देश के नागरिकता सम्बन्धी कानूनों में संशोधन की रूपरेखा भी तैयार कर चुकी है। लेकिन यह संशोधन लगातार विवादों से घिरे रहे हैं। आरोप लग रहे हैं कि संशोधन साम्प्रदायिक आधार पर किये जा रहे हैं और ऐसा करना संविधान के धर्मनिरपेक्ष चरित्र को नष्ट करना है।

नागरिकता सम्बन्धी कानूनों में होने

जा रहे इन बदलावों की शुरुआत बीती 19 जुलाई को हुई, जब गृह मंत्री राजनाथ सिंह ने लोकसभा में 'नागरिकता (संशोधन) विधेयक, 2016' पेश किया था। यह विधेयक 1955 के उस 'नागरिकता अधिनियम' में बदलाव के लिए लाया गया था जिसके तहत किसी भी व्यक्ति की भारतीय नागरिकता तय होती है। इस नये विधेयक का सबसे विवादास्पद प्रावधान 'अवैध प्रवासियों' की परिभाषा में बदलाव है।

1955 का कानून कहता है कि किसी भी 'अवैध प्रवासी' को भारत की नागरिकता नहीं दी जा सकती। इस कानून के तहत 'अवैध प्रवासी' की परिभाषा में दो तरह के लोग आते हैं। पहले, वे विदेशी जो बिना वैध पासपोर्ट या अन्य यात्रा दस्तावेजों के भारत आये हैं। दूसरे, वे विदेशी जो वीजा खत्म होने या अनुमत समय (परमिटेड टाइम) बीतने के बाद भी भारत में रुके हुए हैं। जुलाई में लाया गया संशोधन 'अवैध प्रवासी' की इस परिभाषा में बदलाव करते हुए कहता है कि 'अफगानिस्तान, बांग्लादेश और पाकिस्तान से आने वाले हिन्दू, सिख, बौध, जैन, पारसी और ईसाई लोगों को 'अवैध प्रवासी' नहीं माना जायेगा।' दूसरी

तरह से देखें तो यह संशोधन सिर्फ पड़ोसी देशों से आने वाले मुस्लिमों को ही 'अवैध प्रवासी' मानता है जबकि अन्य लगभग सभी धर्मों के लोगों को इस परिभाषा से बाहर कर देता है।

जिन लोगों को नया विधेयक 'अवैध प्रवासी' की परिभाषा से बाहर करता है, उन्हें देशीकरण (नेचुरलाइजेशन) के जरिये भारतीय नागरिकता हासिल करने में भी छूट देता है। आज कोई व्यक्ति नागरिकता का आवेदन तभी कर सकता है अगर 11 साल से देश में रह रहा हो। लेकिन नया संशोधन इन तमाम लोगों को छह साल बाद ही नागरिकता के लिए आवेदन करने की छूट देता है। यानी नया कानून बनने के बाद अगर पाकिस्तान या बांग्लादेश से कोई हिन्दू अवैध तरीके से भी देश की सीमा के अन्दर घुस आता है तो छह साल बाद वह यहाँ की नागरिकता के लिए आवेदन कर सकता है। यह संशोधन दूसरे देशों से आने वाले सिर्फ मुसलमानों को ही घुसपैठिया मानता है। जबकि अन्य धर्मों को मानने वालों को शरणार्थी मानता है और उन्हें नागरिकता देने की बात करता है।

जुलाई में जब 'नागरिकता (संशोधन)

विधेयक, 2016' लोकसभा में पेश किया गया तो इसका जमकर विरोध हुआ। विरोध के चलते 11 अगस्त को यह विधेयक संयुक्त संसदीय समिति को भेज दिया गया। सांसद सत्यपाल सिंह की अध्यक्षता में बनी इस समिति ने हाल ही में जनता से इन संशोधनों से सम्बन्धित सुझाव माँगे हैं। कई सामाजिक और छात्र संगठन हैं जो इन संशोधनों के विरोध में संसदीय समिति को अपने सुझाव भेजने के साथ ही सड़कों पर भी इसका विरोध कर रहे हैं। विशेष रूप से असम के कुछ संगठन इन संशोधनों का सबसे मुखरता से विरोध कर रहे हैं। 'दिल्ली एक्शन कमेटी फॉर असम' ऐसा ही एक संगठन है जो इन संशोधनों के विरोध में 29 सितम्बर को जंतर-मंतर पर एक प्रतिरोध रैली का आयोजन कर रहा है।

इस समिति से जुड़े बोनोजीत हुसैन कहते हैं "इन संशोधनों के लिए तर्क दिया जा रहा है कि यह मानवीयता के आधार पर किये जा रहे हैं। लेकिन यह साफ दिख रहा है कि ये संशोधन मानवीयता के नहीं बल्कि खांटी साम्प्रदायिक आधार पर किये जा रहे हैं। अगर मानवीयता के आधार पर ये संशोधन होते तो इनमें उन अहमदिया लोगों को भी शामिल किया जाता जिन्हें पाकिस्तान में मुस्लिम नहीं समझा जाता और जो यहाँ आने को मजबूर हैं। और वे रोहिंग्या मुस्लिम भी जो हाल ही में म्यांमार से यहाँ आये हैं।" बोनोजीत यह भी बताते हैं कि ये संशोधन पूरे भारत के लिए जितने घातक हैं उससे कहीं ज्यादा घातक असम के लिए हैं क्योंकि इनका सबसे ज्यादा दुष्प्रभाव असम को ही झेलना पड़ेगा।

असम में बांग्लादेशी शरणार्थियों का मुद्दा सबसे बड़ी समस्याओं में से एक रहा है। 1971 में बांग्लादेश के अलग राष्ट्र बनने से पहले और उसके बाद भी भारी संख्या में लोग असम में आकर बसते रहे थे। इससे यहाँ की जनसांख्यिकी में भारी

परिवर्तन हुए और स्थानीय लोग सशस्त्र विद्रोह तक पर उतर आये। अंततः 1985 में भारत सरकार ने विद्रोही छात्रों के साथ एक सन्धि की जिसके बाद 1986 में नागरिक अधिनियम तक में बदलाव किये गये। इसमें तय किया गया कि 24 मार्च 1971 से पहले असम आये लोग ही भारतीय नागरिकता के हकदार होंगे।

बोनोजीत कहते हैं "हालिया संशोधन 1985 की उस सन्धि को तोड़ देंगे जो बड़ी मुश्किल से हासिल हुई थी। 1947 से 1971 तक जो भी लोग असम आये थे उन्हें शामिल करने का बोज़ एक बार यह राज्य झेल चुका है। अब यही बोज़ असम पर दोबारा डालने के प्रयास किये जा रहे हैं। जिन 'अवैध प्रवासियों' को नागरिकता देने की बात सरकार कर रही है उनकी संख्या यहीं सबसे ज्यादा है। असम के अलावा पूर्वोत्तर के बाकी राज्यों को विशेषाधिकार दिये गये हैं, इसलिए वे इन संशोधनों से प्रभावित नहीं होंगे और सारा बोज़ सिर्फ असम पर ही पड़ेगा।"

इन संशोधनों का विरोध इसलिए भी हो रहा है क्योंकि यह पहली बार है जब देश में स्पष्ट तौर से धार्मिक आधार पर नागरिकता दिये जाने की बात कही जा रही है। कानून के कई जानकार मानते हैं कि ऐसे संशोधन भारतीय संविधान के अनुच्छेद 14 के खिलाफ हैं जो समानता के अधिकार की बात करता है। साथ ही इन संशोधनों को अन्तरराष्ट्रीय शरणार्थी नियमों के भी विरुद्ध माना जा रहा है।

बोनोजीत हुसैन बताते हैं "मानवीय आधारों पर शरणार्थियों को संरक्षण देने लिए पहले ही कई कानून देश में मौजूद हैं। अफगानिस्तान से आये सिखों को भी तो ऐसे ही संरक्षण दिया गया है। लेकिन साम्प्रदायिक आधार पर नागरिकता तय करके यह सरकार सिर्फ अपना वोट बैंक सुरक्षित करना चाहती है।"

साम्प्रदायिक भावनाओं से प्रभावित होने के अलावा ऐसे और भी कारण हैं जिनके चलते हालिया विधेयक विवादों में घिर रहा है। 'भारत के विदेशी नागरिकों' (ओसीआई) के पंजीकरण को रद्द करने सम्बन्धी जो बदलाव इस विधेयक में किये गये हैं, वे भी विवादों से परे नहीं हैं। 1955 के नागरिकता अधिनियम के अनुसार किसी भी ओसीआई का पंजीकरण तीन आधारों पर रद्द किया जा सकता था। पहला, अगर ओसीआई ने धोखाधड़ी से पंजीकरण कराया हो। दूसरा, अगर पंजीकरण के पाँच साल के भीतर ही उसे किसी मामले में दो साल या उससे ज्यादा के कारावास की सजा हुई हो। और तीसरा, अगर देश की सम्प्रभुता और सुरक्षा के लिए ऐसा किया जाना जरूरी हो।

हालिया संशोधन विधेयक इनमें एक और आधार जोड़ने की बात करता है - अगर ओसीआई ने देश में लागू किसी कानून का उल्लंघन किया हो। माना जा रहा है कि यह नया प्रावधान इतना अस्पष्ट और विस्तृत है कि इसके दुरुपयोग की सम्भावनाएँ बहुत बढ़ जाती हैं। इस प्रावधान के चलते ट्रैफिक सिग्नल तोड़ने या नो पार्किंग में गाड़ी खड़ी करने जैसी गलतियों के लिए भी किसी ओसीआई का पंजीकरण रद्द किया जा सकता है।

-राहुल कोटियाल



मीडिया की भूमिका और वर्तमान सन्दर्भ

वर्तमान सन्दर्भ में जब हम मीडिया की भूमिका को खोजने निकलते हैं, तो किसी तरह के नकारात्मक या सकारात्मक निष्कर्ष तक पहुँचने में खासी मेहनत करनी पड़ती है, न तो मीडिया की तारीफ करते बनता है और न ही बेवजह मीडिया की आलोचना ही की जा सकती है। यह बहुत ही दुविधा वाली परिस्थिति है। मीडिया की भूमिका बहुत बेहतर चाहे न हो, पर एकदम नकारा भी नहीं है।

आज की तारीख में मीडिया पर कुछ भी लिखने से पहले बहुत सोच-विचार करना पड़ता है। मामला बहुत नाजुक भी है और संवेदनशील भी। इस विकट परिस्थिति के बाद भी जब मीडिया पर कुछ लिखना ही पड़े तो निश्चित तौर पर अतीत और वर्तमान के मीडिया का निष्पक्ष तुलनात्मक अध्ययन जरूरी हो जाता है, यही वह बिन्दु है जहाँ से मौजूदा मीडिया को और उसके कार्य व्यवहार को आलोचना के दायरे में रखा जा सकता है। इस निगाह से देखें तो आज की मीडिया चाहे वो प्रिंट हो, टेलीविजन हो या रेडियो, पत्रकारिता के मानदंडों पर उतने खरे नहीं दिखायी देते जितना उनको होना चाहिए। इस मामले में सोशल मीडिया ने माहौल को गर्माने में बड़ी भूमिका निभायी है।

मीडिया और उसके मौजूदा सन्दर्भ में चर्चा करने से पहले यह जानना सबसे ज्यादा जरूरी है, कि देश की आजादी से लेकर बाबरी मस्जिद विध्वंस और उसके बाद आज तक राष्ट्रीय परिवेश में मीडिया की कैसी भूमिका रही है? अब तक करीब 7 दशकों में मीडिया के मिजाज, स्वरूप, काम करने के तौर तरीकों और काम करने की शैली के साथ ही पत्रकारों के रहन-सहन

में किस किस का बदलाव आया है। बदलाव तो एक शाश्वत प्रक्रिया है और बदलाव जरूरी भी है लेकिन बदलाव की इस यात्रा में नैतिक मूल्यों, सामाजिक चेतना, सम्बन्धों की पवित्रता, राष्ट्र के प्रति सम्मान और संवेदनशीलता की समझ में जबरदस्त गिरावट देखने को मिलती है। समय के साथ इन प्रतिमानों को केवल इसलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता कि ये तो होना ही था इसमें हम कुछ नहीं कर सकते।

इसी तथाकथित बदलाव का ही नतीजा है, कि आज की युवा पीढ़ी के कुछ पत्रकार मीडिया को एक ऐसे तड़क-भड़क वाले पेशे के रूप में लेते हैं जिसका उद्देश्य केवल और केवल पैसा कमाना रह गया है, चाहे इसके लिए कितने ही समझौते क्यों न करने पड़ें। इन समझौतों से पत्रकारिता के मिशनरी होने की परिभाषा तार-तार हो जाती है। मीडिया का स्वरूप आज पूरी तरह बदल गया है। पत्रकारिता की भौतिक लालसा और इस लालसा की पूर्ति के लिये कुछ भी करने से संकोच नहीं होता चाहे राष्ट्रद्रोह ही क्यों न हो। ऐसे कई उदाहरण देखने को मिले हैं, जब इसी बिरादरी के कुछ लोग देश के खिलाफ जासूसी करते हुए रंगे हाथ पकड़े भी गये। एक जमाना वह भी था जब इसी देश में पत्रकारों ने देश की आजादी के लिए अपनी जान न्योछावर करने से संकोच नहीं किया था, आज उसी देश में कुछ लोग मीडिया में रह कर राष्ट्र के हितों के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं।

देश की आजादी के लिए हो रहे आन्दोलन के दौरान पत्रकारिता एक मिशन के रूप में काम कर रही थी। गणेश शंकर विद्यार्थी, पराड़कर और खुद महात्मा गांधी

तक असंख्य पत्रकार न केवल इसलिए इस पेशे में थे बल्कि इस पेशे से उन्हें प्यार था, क्योंकि उनको लगता था कि स्वाधीनता संग्राम की अलख जगाने और उसे जन-जन तक पहुँचाने का काम पत्रकारिता के माध्यम से ही हो सकता है। यही वजह है कि प्रत्येक आन्दोलनकारी कहीं न कहीं एक पत्रकार भी था। शहीद भगत सिंह से लेकर पंडित जवाहरलाल नेहरू तक तमाम क्रान्तिकारियों ने किसी न किसी रूप में पत्रकारिता को स्वाधीनता आन्दोलन का हथियार जरूर बनाया था। 'यंग इण्डिया' समेत ऐसे हजारों पत्रों का उल्लेख मिलता है, जो हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ राष्ट्रव्यापी माहौल बना रहे थे।

पत्रकारिता का यह मिशन आजादी के बाद के तीन दशकों तक भी इसी जुझारू प्रण से चलता रहा। 1947 से लेकर 1977 तक के इस दौर में पत्रकारों की पैनी कलम ने जवाहर लाल नेहरू और इंदिरा गांधी जैसे ताकतवर प्रधानमंत्रियों को भी नहीं बख्शा। मामला चाहे रक्षा मंत्रालय में जीप घोटाले का हो या फिर चीन के साथ युद्ध में भारत की पराजय का, बंगाल का दुर्भिक्ष हो या फिर देश में आपातकाल लगाने का या फिर पूर्वोत्तर समेत अशांत हिमालयी राज्यों में विदेशी घुसपैठ का, हर मोर्चे पर मीडिया ने सरकार को चौन से नहीं बैठने दिया था। आपात काल की घोषणा के विरोध में तो देश के कई अखबारों ने कई दिन तक संपादकीय ही नहीं लिखे, सम्पादकीय का नियत स्थान काले बॉर्डर के साथ खाली छोड़ दिया गया था। आज उस दृश्य की केवल परिकल्पना ही की जा सकती है, आज की पीढ़ी तो इसे कपोल कल्पना ही

समझती है।

इसी दौर में लोक नायक जयप्रकाश नारायण के आंदोलन, राष्ट्रभाषा आन्दोलन और हरित क्रान्ति जैसे अनेक राजनीतिक और सामाजिक गतिविधियों को आगे बढ़ाने में भी तत्कालीन मीडिया ने नयी सार्थक भूमिका का निर्वाह किया था। असम में तो ऐसे ही एक छात्र आंदोलन में ऑल असम स्टूडेंट्स यूनियन, जिसे संक्षेप में 'आसू' भी कहा जाता है, जैसे मजबूत छात्र संगठन का प्रादुर्भाव भी किया। 'आसू' राजनीतिक रूप से कितना प्रभावशाली संगठन था इसका अन्दाजा इसी तथ्य से लग जाता है, कि इसी छात्र संगठन ने पहली बार इंदिरा गांधी जैसी प्रभावशाली नेता के खिलाफ न केवल सफल आन्दोलन चलाया बल्कि असम गण परिषद के नाम से एक ताकतवर राजनीतिक शक्ति के रूप में संसदीय राजनीति में भी हिस्सा लिया। यह सब सम्भव नहीं होता अगर इन ताकतों को मीडिया का समर्थन नहीं होता।

आपात काल की समाप्ति के बाद देश में पहली गैर-कांग्रेस सरकार के गठन में भी मीडिया की बहुत सार्थक भूमिका रही है। कांग्रेस के विकल्प के रूप में जनता पार्टी के गठन में भी मीडिया की अहम भूमिका थी। मीडिया ने ही केले के छिलके की तरह ढाई साल में ही कांग्रेस का विकल्प बनने में असफल रही जनता सरकार को बेनकाब करने में भी कोई कसर नहीं छोड़ी

थी। इसके चलते ही 1980 में कांग्रेस की सरकार में जबरदस्त वापसी हुई थी। कहने का मतलब यह कि आजादी से पहले और आजादी के बाद के लगभग 4 दशकों तक भारत में पत्रकारिता और पत्रकारों ने लोकतंत्र के चौथे स्तम्भ की भूमिका बहुत ही निष्पक्ष तरीके से निभायी लेकिन बाद के दौर में खासकर 1991-92 में सोवितय संघ के विघटन और नयी वैश्विक उदार आर्थिक नीति के लागू होने के बाद के दौर में पत्रकारिता भी प्रभावित हुई है।

हमारे देश की पत्रकारिता के इतिहास, स्वरूप में आये बदलाव और मूल्यों के सत्यानाश होने की परिस्थितियों को देख कर ऐसा लगता है कि यहाँ की पत्रकारिता में राजनीति का असर हमेशा ही ज्यादा रहा है। जैसे-जैसे राजनीति बदती जैसे-वैसे ही मीडिया का स्वाभाव और स्वरूप भी बदलता गया। 1989 से भारतीय राजनीति में मन्दिर बनाम मस्जिद के विवाद का सिलसिला शुरू हुआ, तो पत्रकारिता भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी। इसी दौर में विश्वनाथ प्रताप सिंह के प्रधानमंत्री काल में मंडल के नाम पर चलायी गयी राजनीति ने पत्रकार जगत को मंदिर बनाम मस्जिद के साथ ही आरक्षण बनाम गैर-आरक्षण के खेमों में बाँट दिया, तभी से यह विभाजन रेखा चली ही आ रही है। इसी को मंडल बनाम कमंडल की राजनीति भी कहा जाता है।

आज की पत्रकारिता का खोखलापन इस रूप में भी देखा जा सकता है कि हम खबरों की खरीदारी भी बड़ी आसानी से करने लगे हैं, और इस मामले में प्रिंट से लेकर इलेक्ट्रॉनिक मीडिया तक सभी के बारे में इसी जुमले का इस्तेमाल किया जा सकता है कि 'हमाम में सारे ही नंगे हैं', कुछ अपवादों को छोड़ कर। इन हालातों में सामाजिक सरोकार की अनदेखी होना स्वाभाविक ही है। उस पर सम्पादकविहीन सोशल मीडिया ने हालत और खराब कर दी है। कुल मिलाकर परिस्थिति इतनी नाजुक हो गयी है, कि न कुछ निगलते बनता है न थूकते। बहरहाल नाउम्मीदी के इस आलम में भी एक कोने से उम्मीद की एक किरण तब नजर आने लगती है, जब कुछ अखबार भट्टा पारसौल के किसानों के साथ ही भूमि अधिग्रहण जैसे जनविरोधी सरकारी कार्यों के खिलाफ खबरें प्रकाशित करते हैं और इस जैसी दूसरी मुहीम में कुछ टेलीविजन चैनल भी उनका सहयोग करते दिखायी देते हैं। फेसबुक और उसके साथ ही ट्विटर जैसे सोशल मीडिया के कुछ स्तम्भकार भी इस दिशा में रचनात्मक सहयोग तो अवश्य कर रहे हैं लेकिन इंडिया बनाम भारत जैसे देश की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं के विशाल स्वरूप को देखते हुए ये सब नाकाफी लगता है।

—ज्ञानेंद्र पाण्डे



जब दुनिया के किसी देश में ये बातें कही जायेंगी -- हमारा गरीब खुश है, उनके बीच न तो उपेक्षा है और न ही निराशा, हमारे जेलों में कैदी नहीं हैं, बूढ़े-बुजुर्ग वंचित नहीं हैं, कमर तोड़ टैक्स नहीं है, यह तार्किक दुनिया है मेरे दोस्त, क्योंकि मैं इसकी खुशी का साथी हूँ-- जब ये सारी बातें कहने की स्थिति हो, तभी जाकर कोई देश अपने संविधान और सरकार की डींग हाँक सकता है।

--टॉमस पेन

भोलाराम का जीव

--हरिशंकर परसाई

धर्मराज लाखों वर्षों से असंख्य आदमियों को कर्म और सिफारिश के आधार पर स्वर्ग या नरक में निवास-स्थान 'अलॉट' करते आ रहे थे। पर ऐसा कभी नहीं हुआ था। सामने बैठे चित्रगुप्त बार-बार चश्मा पोंछ, बार-बार धूक से पन्ने पलट, रजिस्टर पर रजिस्टर देख रहे थे। गलती पकड़ में ही नहीं आ रही थी। आखिर उन्होंने खीझकर रजिस्टर इतने जोर से बन्द किया कि मक्खी चपेट में आ गयी। उसे निकालते हुए वे बोले-- 'महाराज, रिकॉर्ड सब ठीक है। भोलाराम के जीव ने पाँच दिन पहले देह त्यागी और यमदूत के साथ इस लोक के लिए रवाना भी हुआ, पर यहाँ अभी तक नहीं पहुँचा।'

धर्मराज ने पूछा-- 'और वह दूत कहाँ है?'

'महाराज, वह भी लापता है।'

इसी समय द्वार खुले और एक यमदूत बदहवास वहाँ आया। उसका मौलिक कुरूप चेहरा परिश्रम, परेशानी और भय के कारण और भी विकृत हो गया था। उसे देखते ही चित्रगुप्त चिल्ला उठे-- 'अरे, तू कहाँ रहा इतने दिन? भोलाराम का जीव कहाँ है?'

यमदूत हाथ जोड़कर बोला-- 'दयानिधान, मैं कैसे बतलाऊँ कि क्या हो गया। आज तक मैंने धोखा नहीं खाया था, पर भोलाराम का जीव मुझे चकमा दे गया। पाँच दिन पहले जब जीव ने भोलाराम की देह त्यागी, तब मैंने उसे पकड़ा और इस लोक की यात्रा आरम्भ की। नगर के बाहर ज्यों ही मैं उसे लेकर एक तीव्र वायु-तरंग पर सवार हुआ त्यों ही वह मेरे चंगुल से छूटकर न जाने कहाँ गायब हो गया। इन पाँच दिनों में मैंने सारा ब्रह्माण्ड छान डाला, पर उसका कहीं पता नहीं चला।'

धर्मराज क्रोध से बोला-- 'मूर्ख! जीवों को लाते-लाते बूढ़ा हो गया फिर भी एक मामूली बूढ़े आदमी के जीव ने तुझे चकमा दे दिया।'

दूत ने सिर झुकाकर कहा-- 'महाराज, मेरी सावधानी में बिलकुल कसर नहीं थी। मेरे इन अभ्यस्त हाथों से अच्छे-अच्छे वकील भी नहीं छूट सके। पर इस बार तो कोई इन्द्रजाल ही हो गया।'

चित्रगुप्त ने कहा-- 'महाराज, आजकल पृथ्वी पर इस प्रकार का व्यापार बहुत चला है। लोग दोस्तों को कुछ चीज भेजते हैं और उसे रास्ते में ही रेलवे वाले उड़ा लेते हैं। होजरी के पार्सलों के मोजे रेलवे अफसर पहनते हैं। मालगाड़ी के डब्बे के डब्बे रास्ते में कट जाते हैं। एक बात और हो रही है। राजनीतिक दलों के नेता विरोधी नेता को उड़ाकर बन्द कर देते हैं। कहीं भोलाराम के जीव को भी तो किसी विरोधी ने मरने के बाद खराबी करने के लिए तो नहीं उड़ा दिया?'

धर्मराज ने व्यंग्य से चित्रगुप्त की ओर देखते हुए कहा-- 'तुम्हारी भी रिटायर होने की उमर आ गयी। भला भोलाराम जैसे नगण्य, दीन आदमी से किसी को क्या लेना-देना?'

इसी समय कहीं से घूमते-घामते नारद मुनि यहाँ आ गये। धर्मराज को गुमसुम बैठे देख बोले-- 'क्यों धर्मराज, कैसे चिन्तित बैठे हैं? क्या नरक में निवास-स्थान की समस्या अभी हल नहीं हुई?'

धर्मराज ने कहा-- 'वह समस्या तो कब की हल हो गयी। नरक में पिछले सालों में बड़े गुणी कारीगर आ गये हैं। कई इमारतों के ठेकेदार हैं जिन्होंने पूरे पैसे लेकर रद्दी इमारतें बनायीं। बड़े-बड़े इंजीनियर भी आ गये हैं जिन्होंने ठेकेदारों से मिलकर पंचवर्षीय योजनाओं का पैसा खाया। ओवरसीयर हैं, जिन्होंने उन मजदूरों की हाजिरी भरकर पैसा हड़पा जो कभी काम पर गये ही नहीं। इन्होंने बहुत जल्दी नरक में कई इमारतें तान दी हैं। वह समस्या तो हल हो गयी, पर एक बड़ी विकट उलझन आ गयी है। भोलाराम नाम के एक आदमी की पाँच दिन पहले मृत्यु हुई। उसके जीव को यह दूत यहाँ ला रहा था, कि जीव इसे रास्ते में चकमा देकर भाग गया। इसने सारा ब्रह्माण्ड छान डाला, पर वह कहीं नहीं मिला। अगर ऐसा होने लगा, तो पाप-पुण्य का भेद ही मिट जायेगा।'

नारद ने पूछा-- 'उस पर इनकमटैक्स तो बकाया नहीं था? हो सकता है, उन लोगों ने रोक लिया हो।'

चित्रगुप्त ने कहा-- 'इनकम होती तो टैक्स होता। भुखमरा था।'

नारद बोले-- 'मामला बड़ा दिलचस्प है। अच्छा मुझे उसका नाम पता तो बताओ। मैं पृथ्वी पर जाता हूँ।'

चित्रगुप्त ने रजिस्टर देखकर बताया-- 'भोलाराम नाम था उसका। जबलपुर शहर में धमापुर मुहल्ले में नाले के किनारे एक डेढ़ कमरे के टूटे-फूटे मकान में वह परिवार समेत रहता था। उसकी एक स्त्री थी, दो लड़के और एक लड़की। उम्र लगभग साठ साल। सरकारी नौकर था। पाँच साल पहले रिटायर हो गया था। मकान का किराया उसने एक साल से नहीं दिया, इसलिए मकान मालिक उसे निकालना चाहता था। इतने में भोलाराम ने संसार ही छोड़ दिया। आज पाँचवाँ दिन है। बहुत सम्भव है कि अगर मकान-मालिक वास्तविक मकान-मालिक है तो उसने भोलाराम के मरते ही उसके परिवार को निकाल दिया होगा। इसलिए आपको परिवार की तलाश में काफी घूमना पड़ेगा।'

माँ-बेटी के सम्मिलित क्रंदन से ही नारद भोलाराम का मकान पहचान गये।

द्वार पर जाकर उन्होंने आवाज लगायी-- 'नारायण! नारायण!' लड़की ने देखकर कहा-- 'आगे जाओ महाराज।'

नारद ने कहा-- 'मुझे भिक्षा नहीं चाहिए, मुझे भोलाराम के बारे में कुछ पूछताछ करनी है। अपनी माँ को जरा बाहर भेजो, बेटी!'

भोलाराम की पत्नी बाहर आयी। नारद ने कहा-- 'माता, भोलाराम को क्या बीमारी थी?'

‘क्या बताऊँ? गरीबी की बीमारी थी। पाँच साल हो गये, पेंशन पर बैठे। पर पेंशन अभी तक नहीं मिली। हर दस-पन्द्रह दिन में एक दरखास्त देते थे, पर वहाँ से या तो जवाब आता ही नहीं था और आता तो यही कि तुम्हारी पेंशन के मामले में विचार हो रहा है। इन पाँच सालों में सब गहने बेचकर हम लोग खा गये। फिर बरतन बिके। अब कुछ नहीं बचा था। चिन्ता में घुलते-घुलते और भूखे मरते-मरते उन्होंने दम तोड़ दिया।’

नारद ने कहा-- ‘क्या करोगी माँ? उनकी इतनी ही उम्र थी।’

‘ऐसा तो मत कहो, महाराज! उम्र तो बहुत थी। पचास साठ रुपया महीना पेंशन मिलती तो कुछ और काम कहीं करके गुजारा हो जाता। पर क्या करें? पाँच साल नौकरी से बैठे हो गये और अभी तक एक कौड़ी नहीं मिली।’

दुःख की कथा सुनने की फुरसत नारद को थी नहीं। वे अपने मुद्दे पर आये, ‘माँ, यह तो बताओ कि यहाँ किसी से उनका विशेष प्रेम था, जिसमें उन का जी लगा हो?’

पत्नी बोली-- ‘लगाव तो महाराज, बाल बच्चों से ही होता है।’

‘नहीं, परिवार के बाहर भी हो सकता है। मेरा मतलब है, किसी स्त्री...’

स्त्री ने गुरा कर नारद की ओर देखा। बोली-- ‘अब कुछ मत बको महाराज! तुम साधु हो, उचक्के नहीं हो। जिन्दगी भर उन्होंने किसी दूसरी स्त्री की ओर आँख उठाकर नहीं देखा।’

नारद हँसकर बोले-- ‘हाँ, तुम्हारा यह सोचना ठीक ही है। यही हर अच्छी गृहस्थी का आधार है। अच्छा, माता में चला।’

स्त्री ने कहा-- ‘महाराज, आप तो साधु हैं, सिद्ध पुरुष हैं। कुछ ऐसा नहीं कर सकते कि उनकी रुकी हुई पेंशन मिल जाये। इन बच्चों का पेट कुछ दिन भर जाये।’

नारद को दया आ गयी थी। वे कहने लगे-- ‘साधुओं की बात कौन मानता है? मेरा यहाँ कोई मठ तो है नहीं। फिर भी मैं सरकारी दफ्तर जाऊँगा और कोशिश करूँगा।’

वहाँ से चलकर नारद सरकारी दफ्तर पहुँचे। वहाँ पहले ही से कमरे में बैठे बाबू से उन्होंने भोलाराम के केस के बारे में बातें कीं। उस बाबू ने उन्हें ध्यानपूर्वक देखा और बोला-- ‘भोलाराम ने दरखास्तें तो भेजी थीं, पर उन पर वजन नहीं रखा था, इसलिए कहीं उड़ गयी होंगी।’

नारद ने कहा-- ‘भई, ये बहुत से ‘पेपर-वेट’ तो रखे हैं। इन्हें क्यों नहीं रख दिया?’

बाबू हँसा-- ‘आप साधु हैं, आपको दुनियादारी समझ में नहीं आती। दरखास्तें ‘पेपरवेट’ से नहीं दबतीं। खैर, आप उस कमरे में बैठे बाबू से मिलिए।’

नारद उस बाबू के पास गये। उसने तीसरे के पास भेजा, तीसरे ने चौथे के पास चौथे ने पाँचवें के पास। जब नारद पच्चीस-तीस बाबुओं और अफसरों के पास घूम आये तब एक चपरासी ने कहा-- ‘महाराज, आप क्यों इस झंझट में पड़ गये। अगर आप साल भर भी यहाँ चक्कर लगाते रहे, तो भी काम नहीं होगा। आप तो सीधे बड़े साहब से मिलिए। उन्हें खुश कर दिया तो अभी काम हो जायेगा।’

नारद बड़े साहब के कमरे में पहुँचे। बाहर चपरासी ऊँच रहा था।

इसलिए उन्हें किसी ने छेड़ा नहीं। बिना ‘विजिटिंग कार्ड’ के आया देख साहब बड़े नाराज हुए। बोले-- ‘इसे कोई मन्दिर-वन्दिर समझ लिया है क्या? धड़धड़ाते चले आये! चिट क्यों नहीं भेजी?’

नारद ने कहा-- ‘कैसे भेजता? चपरासी सो रहा है।’

‘क्या काम है?’ साहब ने रौब से पूछा।

नारद ने भोलाराम का पेंशन केस बतलाया।

साहब बोले-- ‘आप हैं बैरागी। दफ्तरों के रीति-रिवाज नहीं जानते। असल में भोलाराम ने गलती की। भई, यह भी एक मन्दिर है। यहाँ भी दान-पुण्य करना पड़ता है। आप भोलाराम के आत्मीय मालूम होते हैं। भोलाराम की दरखास्तें उड़ रही हैं। उन पर वजन रखिए।’

नारद ने सोचा कि फिर यहाँ वजन की समस्या खड़ी हो गयी। साहब बोले-- ‘भई, सरकारी पैसे का मामला है। पेंशन का केस बीसों दफ्तरों में जाता है। देर लग ही जाती है। बीसों बार एक ही बात को बीस जगह लिखना पड़ता है, तब पक्की होती है। जितनी पेंशन मिलती है उतने की स्टेशनरी लग जाती है। हाँ, जल्दी भी हो सकती है मगर...’ साहब रुके।

नारद ने कहा-- ‘मगर क्या?’

साहब ने कुटिल मुसकान के साथ कहा, ‘मगर वजन चाहिए। आप समझे नहीं। जैसे आपकी यह सुन्दर वीणा है, इसका भी वजन भोलाराम की दरखास्त पर रखा जा सकता है। मेरी लड़की गाना बजाना सीखती है। यह मैं उसे दे दूँगा। साधु-संतों की वीणा से तो और अच्छे स्वर निकलते हैं।’

नारद अपनी वीणा छिनते देख जरा घबराये। पर फिर संभलकर उन्होंने वीणा को टेबल पर रखकर कहा-- ‘यह लीजिए। अब जरा जल्दी उसकी पेंशन ऑर्डर निकाल दीजिए।’

साहब ने प्रसन्नता से उन्हें कुर्सी दी, वीणा को एक कोने में रखा और घंटी बजायी। चपरासी हाजिर हुआ।

साहब ने हुक्म दिया - बड़े बाबू से भोलाराम के केस की फाइल लाओ।

थोड़ी देर बाद चपरासी भोलाराम की सौ-डेढ़-सौ दरखास्तों से भरी फाइल लेकर आया। उसमें पेंशन के कागजात भी थे। साहब ने फाइल पर नाम देखा और निश्चित करने के लिए पूछा-- ‘क्या नाम बताया साधु जी आपने?’

नारद समझे कि साहब कुछ ऊँचा सुनता है। इसलिए जोर से बोले-- ‘भोलाराम!’

सहसा फाइल में से आवाज आयी-- ‘कौन पुकार रहा है मुझे। पोस्टमैन है? क्या पेंशन का ऑर्डर आ गया?’

नारद चौंके। पर दूसरे ही क्षण बात समझ गये। बोले-- ‘भोलाराम! तुम क्या भोलाराम के जीव हो?’

‘हाँ! आवाज आयी।’

नारद ने कहा-- ‘मैं नारद हूँ। तुम्हें लेने आया हूँ। चलो स्वर्ग में तुम्हारा इंतजार हो रहा है।’

आवाज आयी-- ‘मुझे नहीं जाना। मैं तो पेंशन की दरखास्तों पर अटका हूँ। यहीं मेरा मन लगा है। मैं अपनी दरखास्तें छोड़कर नहीं जा सकता।’



देवी प्रसाद मिश्र की दो कविताएँ

कविताएँ लिखनी चाहिए

जैसा कि एक कवि कहता है कि मातृभाषा में ही लिखी जा सकती है कविता
तो मातृभाषा को याद रखने के लिए लिखी जानी चाहिए कविता
और इसलिए भी कि यह समझ धुंधली न हो
कि पिता पहला तानाशाह होते हैं
और जैसा कि मैं कह गया हूँ माँएँ पहला कम्युनिस्ट
पड़ोसियों ने फासिस्ट न होने की गारंटी कभी नहीं दी

इलाहाबाद से दिल्ली के सफर के शुरू में
एक आदमी ने सीट को एक्सचेंज करने का प्रस्ताव रखा
फिर उसने कहा कि और क्या एक्सचेंज किया जा सकता है
मैंने कहा कि मैं किसी को अपना कोहराम नहीं देने वाला
जाते-जाते वह कह गया कि झूठ पर फिल्म बनाने के बहुत पैसे मिलते हैं
मैंने गायब होने के पहले कहा
कि जो संरक्षण संविधान में कवि को मिलना चाहिए था वह गाय को मिल गया
पान खाते हुए वह हँस पड़ा और उसका सारा थूक मेरे मुँह पर पड़ गया

कविताएँ लिखनी चाहिए ताकि कवि नैतिक अल्पसंख्यक न रह जायें

कविताएँ लिखनी चाहिए ताकि मुक्केबाज के तौर पर मुहम्मद अली की याद रहे
और देश के तौर पर वियतनाम की
और बसने के लिए फिलिस्तीन से बेहतर कोई देश न लगे
और वेमुला होना सबसे ज्यादा मनुष्य होना लगे

कविताएँ लिखनी चाहिए क्योंकि ऋतुओं और बहनों के बगल से गुजरने को
कविताएँ ही रजिस्टर करती हैं और पत्तों और आदमी के गिरने को

कविताएँ लिखनी चाहिए क्योंकि कवि ही करते हैं वापस पुरस्कार
और उन्हें ही आती है अखलाक पर कविताएँ लिखते हुए रो पड़ने की अप्रतिम कला

सत्य को पाने में मुझे अपनी दुर्गति चाहिए

औरों की मैं नहीं जानता
लेकिन मेरा काम अर्णव गोस्वामी के बिना चल जाता है

सत्य को पाने में मुझे अपनी दुर्गति चाहिए

आइंस्टीन का बिखराव जिसमें बाल भी शामिल हों तो क्या हर्ज
चे का चेहरा और स्टीफन हाकिंग का शरीर
फासबिंडर की आत्मा और ऋत्तिक घटक का काला-सफेद

मैं अपने प्रतिभावान होने का सर्वेक्षण कुछ दिनों के लिए टाल रहा हूँ
बचे समय में मैं अपने दुस्साहस से काम चला लूँगा और असहमति से

मैं अपने काव्य-पाठ में खाली हॉल से आश्वस्त हुआ
इस्मत-चुगताई की अंत्येष्टि में तीन लोग थे
रघुवीर सहाय के दाह-संस्कार में कुछ ज्यादा थे
मैं भी था लेकिन मुझे लोग नहीं जानते थे अब भी नहीं जानते
तब फेसबुक नहीं था और अब है तो मुझे उस पर होना नहीं आया

मेरे पास अजीब झुँझलाया चेहरा था
कि जैसे किसी सतत असहमत का आधा अमूर्त चेहरा चारकोल से बनाकर
कलाकार अपनी प्रेमिका के साथ भाग गया हो

जिस समाज में
सनी लियोनी, मोदी और अमिताभ बच्चन के ट्विटर पर सबसे ज्यादा लाइक-फॉलोवर हों
उसमें रात एक बजे खुद के साथ खुद का होना
और इस बात पर नींद का न आना
कि सिंगापुर में रहने वाला आपका भाँजा मोदी समर्थक है काफी अजीब और बियाबान विपक्ष है

मैं अन्दर-अन्दर ही फटती नस से मरूँगा
यह केवल संकेत है कि कौन किससे मरेगा
मतलब कि संस्कृति मंत्री अपने भीतर के जहर से मरेगा

आइए अब चलते हुए पूछ ही लेते हैं कि लोग शाहरुख खान की फिल्में क्यों देखते हैं
और आईपीएल के बीसियों मैच और उनमें फँसा राजीव शुक्ला का बहुत खाया चेहरा

अगर आपको याद हो तो मैंने कई बार कहा है कि कोई भी प्रेम अवैध नहीं होता
और अत्याचारी से घृणा सबसे रोमांटिक कार्यभार है

पृथ्वी छोड़ने में मुझे देर हो रही है
लेकिन प्रेमिका का बिस्तर छोड़ने में भी मैं कई तरह के बहाने करता रहा हूँ

चलिए इस कविता को यहीं खत्म मान लें
और मेरे लिए दिल्ली छोड़ने के टिकट का चंदा इकट्ठा करें

मैं पता नहीं कब से यही सोचे जा रहा हूँ
कि एक फासिस्ट का नाम रमाकांत पांडे कैसे हो सकता है

(पाखी पत्रिका से साभार)



इरोम शर्मिला और मणिपुर में राजनीति का भविष्य

-अमित इकबाल

समाज के लिए कुछ सोचने या करने वालों को हमारे देश में अकसर देवता मान लिया जाता है। इस प्रक्रिया में कोई भूख हड़ताल करे फिर तो कोई बात ही नहीं। सन 2011 में हमने देखा कि लोकपाल कानून की माँग में जब अन्ना हजारे भूख हड़ताल में बैठे तो उनको भी इसी तरह देवता बना दिया गया था। जनता के दिलो-दिमाग में उनकी मूर्ति बिठाने में कॉरपोरेट चालित मीडिया ने कोई कसर नहीं छोड़ी थी। अकसर लोग भूल जाते हैं कि वे भी इनसान हैं। लेकिन देवता बनाने की यह प्रक्रिया शासक वर्गों के लिए कितना फायदेमंद है ये हम समझ नहीं पाते। जिनको देवता मानते हैं उनकी इनसानी जिन्दगी की तकलीफों, जरूरतों को हम बहुत आसानी से नजरंदाज कर देते हैं। इसलिए जब भूख हड़ताल करने वाले शख्स हड़ताल तोड़ते हैं तो हम उनके जिंदा रहने पर भी सवाल उठाते हैं। हमारी मनोकामना यही होती है की इस प्रक्रिया में अगर इनकी जान चली जाती तो हमें कम से कम एक और देवता मिल जाता उनका जन्मदिन या शहादत मनाने के लिए।

ठीक ऐसा ही हुआ जब 9 अगस्त को मणिपुर में सशस्त्र बल विशेष अधिकार कानून (आफ्सपा) विरोधी आन्दोलन की प्रतीक इरोम चानू शर्मिला ने 16 साल से जारी भूख हड़ताल समाप्त करने की घोषणा की। हड़ताल तोड़ने के बाद उनके लम्बे समय के साथियों ने भी अपने घर में उनको जगह देना मुनासिब नहीं समझा, आखिर वे उसी अस्पताल में वापस गयी जहाँ पिछले सोलह साल से रह रही थी। इससे पता

चलता है कि आफ्सपा जैसे काले कानून के खिलाफ संघर्ष को कैसे इस घटना ने पीछे धकेल दिया।

इरोम शर्मिला कसूरवार नहीं है। उनकी हड़ताल के दौरान जिन लोगों की जिम्मेदारी थी कि इस दकियानुसी कानून के खिलाफ लोगों में जागरूकता फैलाते वे कसूरवार हैं। इससे पहले आप देश-विदेश अंक 11/12 में पढ़ चुके हैं कि अन्ना हजारे के आन्दोलन में कैसे सारे बड़े उद्योग और मीडिया इसको द्वितीय स्वतंत्रता आन्दोलन के रूप में स्थापित करने में लगे हुए थे। लेकिन इसके बरकश शर्मिला का आन्दोलन उसकी तुलना में शासक वर्गों के लिए खतरनाक होने के कारण इस आन्दोलन को घर-घर तक पहुँचाने का काम मीडिया ने नहीं किया। इसका प्रचार प्रसार मूलतः जनपक्षधर आन्दोलन करने वाले छोटे बड़े राजनैतिक या नागरिक समाज के संगठन ही करते आये हैं। आज भी भारत की आबादी में ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो जानते ही नहीं कि मणिपुर इस देश का राज्य है। यह मूलतः पुर्वोत्तर राज्यों को अपने से अलग समझने के कारण ही है। इसलिए आफ्सपा जैसे काले कानून और उसके तहत सशस्त्र बल का अत्याचार भी मूल भारतीय (मेनलैंड इंडियन) लोगों के लिए कोई परेशानी की बात नहीं है।

असल में हम जानते ही नहीं कि सुरक्षा या कानून की रक्षा के बहाने किसी जगह सेना तैनात होने का मतलब क्या है। वहाँ के लोगों को रोजमर्रे की जिन्दगी में इसके चलते कितनी मुश्किलों का सामना करना पड़ता है। यही वजह है की हम

कानून के नाम पर कहीं भी सेना-पुलिस को भारी संख्या में इस्तेमाल करने की चाल को जनहित में देखने की गलती करते हैं - चाहे मणिपुर हो या कश्मीर। हमारे दिमाग में यह बात इतनी गहराई तक बसी है कि कुनान-पोस पोरा गाँव की महिलाओं का बलात्कार हो या सन 1979-2012 में मणिपुर के 1528 फर्जी एन्काउन्टर, आसानी से हम उनको उचित मान लेते हैं। बहुत से लोग ऐसे लोग भी हैं जो यह तर्क भी देते हैं कि घर से इतनी दूर प्रतिकूल स्थिति में जीने वाले सिपाहियों की मानसिक स्थिति का भी तो खयाल रखना चाहिए! यानी सिपाहियों का अपनी भड़ास, कुंठा निकालने के लिए गोली बारी करना, महिलाओं का बलात्कार करना स्वाभाविक है!!! इसलिए जब सेना के जवानों ने थानग्याम मनोरमा देवी का बलात्कार किया सिर्फ इस सन्देश के चलते कि वे किसी हाथियारबन्द आन्दोलन की सदस्य हैं, तब न मीडिया में कुछ हलचल हुई और न ही हमारी चेतना में वहाँ की मेइतेइ जनजाति की औरतों ने जब “इंडियन आर्मी रेप अस” बैनर के साथ नंगी होकर सड़क पर प्रदर्शन किया, तब हमें माँ-बहनों की इज्जत की कोई परवाह नहीं हुई। वैसे हर छोटी बात पर माँ-बहनों की इज्जत के नाम पर उत्तर भारत में अल्पसंख्यक लोगों के साथ क्या-क्या नहीं होता या पकिस्तान की बात जब आ जाती है तब हमारा आत्मसम्मान हमें इतना बेचैन करता है कि पाकिस्तान को मिटाये बिना हम शान्त नहीं होना चाहते हैं।

जब मामला मणिपुरवासियों का हो, जिनको हम वैसे भी इनसान नहीं मानते हैं,

उनकी इज्जत क्या भला? देश के संविधान के तहत सम्पूर्ण नागरिक अधिकार के अनुरूप अपनी जिन्दगी जीने की माँग को लेकर इरोम शर्मिला पिछले सोलह साल भूख हड़ताल करती रही। हम में से जो लोग 10-12 दिन अन्ना हजारे की हड़ताल में पिघल गये थे उनके विवेक पर एक खरोंच भी नहीं आयी, क्योंकि हम सेना को देवतुल्य मानते हैं और देवता कोई गुनाह तो करते ही नहीं। यही वजह है शर्मिला भूख हड़ताल से पीछे हटने के। हम कश्मीर के लोगों को दोषी ठहराते हैं कि वे हमेशा हिंसक आन्दोलन का रास्ता क्यों अपनाते हैं? और गांधीजी के रास्ते पर सोलह साल चल कर इरोम शर्मिला ने यह साबित कर दिया है कि ऊँचा सुनने वालों के लिए धमाके की जरूरत वाकई है! क्या हम भूखे लोगों को इसके बाद भी भूख हड़ताल से

जान देने का धार्मिक उपदेश देते रहेंगे?

हड़ताल वापस लेती हुई शर्मिला ने कहा के वे मूलधारा की राजनीति, यानी चुनावी राजनीति के जरिये अपने आन्दोलन को और मजबूत करना चाहती है। इस फैसले से उनके बहुत से हितैषी नाराज हो चुके हैं। अब गौर करने की बात यह भी है कि उन्होंने कोई विकल्प की बात भी नहीं की लेकिन इस तरह शर्मिला के तरीका बदलने बदलने का उद्देश्य मणिपुरी लोगों के लोकतांत्रिक अधिकारों की माँग है। इससे आप सहमत हो सकते हैं और नहीं भी। हालाँकि अन्य राज्यों/क्षेत्रों में ऐसी माँगों को लेकर पारम्परिक रास्ते पर चलने का नतीजा भी हम देख चुके हैं। चाहे कश्मीर हो या छत्तीसगढ़ या झारखंड। अब ऐसी स्थिति में न सिर्फ मणिपुर के लोगों, बल्कि सभी लोकतांत्रिक, जनपक्षधर राजनीति

करने वाली ताकतों के सामने यह चुनौती है कि आन्दोलन का सही तरीका क्या होना चाहिए। क्या यह आन्दोलन सिर्फ सेना के खिलाफ है या इसके आर्थिक-राजनीतिक पहलु भी है? जो लोग इसको सिर्फ राष्ट्रीयता की लड़ाई मानते हैं, वे बेशक एकांगी नजरिये से इसको देख रहे हैं। समग्रता में इसको देखने का मतलब भारत के बाकी इलाकों में चल रहे लोकतांत्रिक, प्रगतिशील आन्दोलनों के साथ इस आन्दोलन का क्या रिश्ता होगा, इसको भी देखना है। आज मणिपुर का जनान्दोलन ऐसे मोड़ पर है जिसके बारे में फैसला देने का वक्त नहीं आया है। वक्त है जनान्दोलनों के साथ उस आन्दोलन की दूरी या नजदीकी तय करने की।



श्यामा प्रसाद मुखर्जी किसके आदर्श हो सकते हैं

आजकल भाजपा अपने पुरोधा श्यामा प्रसाद मुखर्जी के राष्ट्रवाद के बखान में जुटी है। आइये इनके बारे में कुछ तथ्यों पर नजर डालें।

1. 1939 में ब्रिटेन द्वारा भारत को युद्ध में घसीटने के खिलाफ जब समस्त राज्यों में कांग्रेसी सरकारों ने इस्तीफा दे दिया था और नेताजी सुभाष आदि समस्त राष्ट्रवादी अंग्रेजों के खिलाफ एक और संघर्ष की तैयारी में जुटे थे और गिरफ्तार भी किये गये थे, तब ये साहब बंगाल की अंग्रेजी सरकार में शामिल होकर मंत्री बने थे और अपने नेता सावरकर की तरह अंग्रेजों के खिलाफ किसी भी तरह के संघर्ष का घोर विरोध कर रहे थे।

2. भारत की 'अखंडता' पर तो सावरकर की तरह ही इनका विचार था कि देश का विभाजन होना ही चाहिए! ये तो 1944 से ही भारत विभाजन के पक्ष में काम कर रहे थे। 2 मई 1947 को इन्होंने वायसराय माउंटबेटन को पत्र लिखकर विनती की कि अगर भारत का विभाजन न भी हो तो बंगाल

का तो जरूर ही करवा दें। जबकि नेताजी सुभाष के बड़े भाई शरतचंद्र बोस आदि बंगाली नेता संयुक्त बंगाल के लिए प्रयासरत थे।

3. 50 लाख जानें लेने वाला बंगाल का अकाल इनके बंगाल की अंग्रेजी सरकार में मंत्री रहते ही पड़ा था लेकिन भूख से मरते लोगों के लिए राहत का इंतजाम करने के बजाय इनकी सबसे बड़ी चिंता थी कि सार्वजनिक राहत केंद्रों में 'निम्न जाति' और मुस्लिम लोग काम न करें, नहीं तो सवर्ण लोग वहाँ कैसे खायेंगे!

4. आजादी के बाद ये नेहरू की सरकार में भी मंत्री थे (कश्मीर के घटनाक्रम के समय भी) और जब अम्बेडकर एक प्रगतिशील हिन्दू विवाह कानून का प्रस्ताव लेकर आये तो इनका कहना था कि इसमें प्रस्तावित एक पत्नी विवाह और तलाक की अनुमति से 'हिन्दू धर्म की आत्मा' ही नष्ट हो जायेगी! इस हिन्दू विवाह कानून पर मुखर्जी और पंत आदि के विरोध के कारण ही अम्बेडकर को आखिर मंत्री पद से इस्तीफा देना पड़ा था।



पिंक : राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र की सामन्ती सोच का आईना

-अमित

सामाजिक मुद्दों पर फिल्म बनाने के कई खतरे हैं। या तो फिल्म उस मुद्दे को हल्का कर देती है या बोझिल 'कला फिल्म' हो जाती है, जो ज्यादातर दर्शकों को समझ में नहीं आती। लेकिन कुछ फिल्में बनती हैं जहाँ मनोरंजनक पहलू को बिना नुकसान पहुँचाये उन खास मुद्दों को भी सही तरीके से दर्शकों के सामने पेश किया जाता है, ताकि उन्हें समझने में परेशानी न हो। पिछले करीब डेढ़ दशक से ऐसी फिल्में पहले की तुलना में ज्यादा संख्या में बनने लगी हैं। हिन्दी फिल्म क्षेत्र में दो साल पहले कश्मीर को लेकर बनी 'हैदर' भी इसी सिलसिले की कड़ी थी और ताजा उदाहरण है 'पिंक'। पिंक सिर्फ रंग नहीं है, उसके साथ जुड़ी हुई लिंगवादी भावना का प्रतीक भी है। नजर घुमायेंगे तो पता चलेगा कि घर की बच्ची के लिए इसी रंग के कपड़े या खिलौने लोग अक्सर खरीदते हैं। लेकिन यह रंग लड़कों के लिए उन्हें कतई पसन्द नहीं है।

निर्देशक सुजित सरकार 'यहाँ' और 'विकि डोनर', जैसी फिल्मों में बेहतरीन कथानक के जरिये अपने आप को स्थापित कर चुके हैं। लेकिन इस बार 'पिंक' फिल्म में उन्होंने प्रायोजक की नयी भूमिका ली और इसमें भी कहानी और विषय के चुनाव में अपना जादू कायम रखा। इस फिल्म के निर्देशक अनिरुद्ध राय चौधरी है जो कई सफल और बेहतरीन बांग्ला फिल्म बना चुके हैं। सुजित सरकार ने दिल्ली में पैदा होने और शिक्षा प्राप्त करने का नमक इस फिल्म के जरिये अदा किया है। इस प्रक्रिया में उनके पुराने दोस्त-जोड़ीदार शान्तनु मैत्रा ने बखूबी साथ निभाया है, संगीतकार के रूप में।

कहानी शुरू होती है तीन लड़के और तीन लड़कियों की पार्टी से। इनमें से एक लड़का राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के एक प्रभावशाली राजनीतिक घराने से है जिसके दोस्त हैं बाकी दो लड़के। तीनों लड़कियाँ दिल्ली में रोजगार की तलाश में आयी हजारों लड़कियों में से कोई भी हो सकती है। नवउदारवादी अर्थनीति के साथ-साथ आयातित नये पेशों में नौजवान लड़के-लड़कियाँ रोज दिल्ली पहुँचते हैं। इनमें से कोई गुडगाँव-नोएडा की चमचमाती जिन्दगी में घुसने का टिकेट हासिल कर लेता है और ज्यादातर नहीं कर पाते हैं। खास कर जो लड़कियाँ यहाँ नौकरी करने आती हैं उनको दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र की राजधानी क्या नजराना पेश करती है, यह शायद हम कभी सोचते भी नहीं। दिल्ली में जो किराये के मकान में रहते हैं उनको पता है कि अविवाहित लोगों के लिए घर मिलना कितना मुश्किल है। अगर आप अविवाहित जवान लड़की हैं तो ये परेशानी और बढ़ जाती है। मकान मालिक आपका पेशा, जाति-धर्म, खाने-पीने के तरीके आदि जानने के बाद आपके घर (यानी मुलनिवास) का पता, पिताजी का पेशा, उनका फोन नम्बर आदि जानकारी लिए बिना सन्तुष्ट नहीं होते हैं। अगर आपके रिश्तेदार या पहचान के लोग यहाँ रहते हैं तो उनका अता-पता भी वे रख लेते हैं। अक्सर लड़कियों को इस सवाल का सामना करना पड़ता है "आप घर से भाग कर तो नहीं आयी हैं?" खैर, इस दिल्ली में भी कहानी की तीन लड़कियों को एक उदार मानसिकता के मकान मालिक मिल जाते हैं जो अपने सोसायटी वालों के हजार

कहने के बावजूद किरायेदारों के बारे में कानाफूसी (जैसे आम तौर पर अविवाहित पेशेवर लड़कियों के बारे में गली-मोहल्ले के लोग करते ही हैं) को अनसुनी करते हैं। काश ऐसे मकान मालिक दिल्ली में आयी हर लड़की को नसीब हों!

ऊपर बतायी गयी पार्टी में लड़के लड़कियों से जान पहचान के बाद डिनर के लिए बुलाते हैं। और तीन बिन्दास लड़कियाँ भी थोड़ी झिझकने के बावजूद न्योता स्वीकार करती हैं और एक बार-कम-रेस्तराँ में आती हैं। उनके साथ-साथ बैठकर लड़कियाँ शराब भी पी लेती हैं। ऐसे मौके पर जब एक लड़का मीनल अरोड़ा (तापसी पन्नु) को जबरदस्ती बिस्तर में लाने की कोशिश करता है तो उस असहाय स्थिति में वह उसके सर पर शराब की बोतल ही फोड़ देती है और तीनों लड़कियाँ वहाँ से भाग निकलती हैं। अगले दिन ठण्डे दिमाग से वे सोचती भी हैं कि गुस्से में शायद ज्यादा ही कर दिया और माफ़ी माँग लेनी चाहिए। ऐसे मौके पर स्थिति सम्भालने के लिए मैदान में उतरता है लड़कों का एक और दोस्त (जो नेता जी का सफर-संगी भी होता है अक्सर)। पहले ही मकान मालिक को उन लड़कियों को घर से निकालने के लिए गुमनामी फोन करके धमकी देता है। लेकिन लड़कियों पर भरोसा रखने वाला आदमी कीमत चुकाता है एक सड़क दुर्घटना में जख्मी होकर। मीनल को अगवा करके उसके साथ अश्लील बर्ताव भी किया जाता है। तब डरी हुई लड़कियाँ सुलह करने के बजाय अपने दोस्तों के जरिये पुलिस में रिपोर्ट लिखवाती हैं। हालाँकि मीनल ने यह कोशिश पहले ही की थी लेकिन एक पुलिस

अधिकारी खड़ीबोली में उसको काफी प्रभावित करने वाला भाषण देता है ताकि वो निराश जाये। इस बार रिपोर्ट किसी बड़े अधिकारी के पास जा कर लिखवाने के बावजूद राजनीतिक पहुँच के चलते दोषी लड़के के खिलाफ कार्रवाई नहीं होती। वह घटनास्थल जिस थाने में आता है वहीं लड़कियों के खिलाफ मामला दर्ज हो जाता है।

अन्ततः मामला दिल्ली डिस्ट्रिक्ट कोर्ट में पहुँचता है, मीनल के गिरफ्तार होने के बाद। ऐसे मुकद्दमे का सवाल-जवाब हिन्दी फिल्म में पारम्परिक रूप में भारतीय समाज की सामन्ती मूल्य-मान्यताओं को स्थापित करती है। लेकिन वादी पक्ष के वकील के रूप में पीयूष मिश्र और उनके विपक्ष अमिताभ बच्चन ने एक नयी मिसाल कायम की है। बीमार बीवी और अपनी शारीरिक दिक्कतों से परेशान एक समय का मशहूर वकील दीपक सहगल (अमिताभ बच्चन) का इस मामले में शामिल होना भी अपने आप में शहरी जिन्दगी का एक और पहलू को दिखाती है। 'मृगया' (सन 1976) की ममता शंकर उनकी बीमार बीवी की भूमिका में है। वादी वकील प्रशान्त (मिश्र) बार-बार चीख-चीखकर दर्शकों को उन्हीं परिचित तर्कों से परेशान कर देते हैं जो रोज हम सुनते हैं लड़कियों के बारे में, उनके चरित्र के बारे में। दूसरे तरफ दीपक सहगल उन्हीं तर्कों से ढूँढ निकालते हैं कि किन सोचों के चलते दिल्ली आज भारत की 'रेप कैपिटल' नाम से मशहूर है। दुविधाग्रस्त न्यायाधीश की भूमिका में कलाकार धृतिमान चटर्जी ने संयत अभिनय किया है। ऐसे मामलों में वकीलों का एक हिस्सा भारतीय संविधान, अदालत, सबको ठेंगा दिखाते हुए सामन्ती मर्दवाद का जयजयकार करता है। यह हमने जेएनयू छात्रनेता कन्हैया कुमार को जब अदालत के सामने ही पीटा गया था तब भी देखा था। इस फिल्म का एक अहम पहलू है फँसी हुई लड़कियों में एक मेघालय की लड़की का शामिल होना। आमतौर पर उत्तर भारत (खासकर दिल्ली में) लोग उन्हें 'चिंकी' बोलते हैं जो हमारे दिमाग में बसे

नस्लवाद का प्रमाण है। लेकिन नस्लवादी इतना जानकर सन्तुष्ट हो जाते हैं कि वे 'पूर्वोत्तर राज्यों', यानी चीन, तिब्बत, नेपाल से हैं-- उनको फर्क नहीं पड़ता की वे असम से हैं या नागालैंड से; मिजोराम से हैं या त्रिपुरा से; अरुणाचल से हैं या मेघालय से। इस इलाके में जनता के आंचलिक असंतोष का दमन करने वाले काले कानून 'सशस्त्र बल विशेष अधिकार' यानी आपस्या के खिलाफ भूख हड़ताल करने वाली इरोम शर्मिला के चलते वे मान लेते हैं कि पूर्वोत्तर का मतलब है मणिपुर!!

लड़कियों ने रिओ ओलिम्पिक में जब पदक जीता उसके बाद हमारे देश में बेटा बचाओ का राग तेज हुआ है। लेकिन इसी समाज की डेरों विकृतियों से लड़कर जो लड़कियाँ 'वर्किंग विमेन' (प्रचलित अर्थ में) समुदाय गढ़ रही हैं उनकी जिन्दगी की हकीकत दिखाने में तीनों अभिनेत्रियों-- तापसी पन्नू, कृति कुल्हारी और एंड्रिया तैरंग ने कोई कसर नहीं छोड़ी। चाहे हिम्मत वाली मीनल हो या कमर टूटी हुई मीनल दोनों जगह अपने किरदार को सही तरह से ही पेश किया है। उसके प्लेटेड मेट के रूप में कृति और एंड्रिया भी आर्थिक रूप से स्वतंत्र लेकिन समाज से त्रस्त आधुनिक है। इनके विपरीत समाज के काले चेहरे को अंगद बेदी और विजय वर्मा अपनी बेहतरीन अदाकारी से दर्शक के सामने उतने ही यथार्थ रूप में पेश करते हैं।

फिल्म के कई मोड़, संवाद ऐसे हैं जो दर्शकों के दिल को बार-बार खरोंचते हैं, उन्हें अस्थिर करते हैं इसके बावजूद कि वे इन बातों से रोज मुखातिब होते हैं। 'लड़कियों को हमेशा औकात दिखा देनी चाहिए' या 'किसी नये परिचित के साथ डिनर करने के लिए तैयार लड़कियाँ आपके बिस्तर में आसानी से आ सकती हैं'। यह बात अलग है के महामान्य सेंसर बोर्ड की असीम कृपा से ऐसी लड़कियों को अक्सर जिस नाम से (मर्दवादी नैतिकता के अनुसार) पुकारा जाता है उसे सुनने का मौका दर्शकों को नहीं मिला। यथार्थवादी फिल्म होनी चाहिए,

लेकिन संस्कार का भी ख्याल रखना चाहिए! इस कहानी के जरिये निर्देशक उन बिन्दुओं पर भी इशारा करता है जिनके चलते खाप पंचायत बलात्कार, ऑनर किलिंग जैसे मामलों में अपने कबिलाई फैसले महान सांस्कृतिक आर्यावर्त को रोज ही सुर्खियों में रखती हैं।

लेखक रीतेश शाह ने अपनी कलम का जादू दिखाया है, इतने महत्त्वपूर्ण मुद्दों को दिलचस्प कहानी में बदलने में। संगीत के इस्तेमाल के मामले में प्रचलित हिन्दी फिल्म से हटके इसमें सिर्फ एक ही गाना है और वह भी परिस्थिति, उसकी दुविधा, नजाकत को बयान करने के लिए बैंक ग्राउंड से। शान्तनु मैत्रा ने गायिका शुभा मुदगल के साथ बहुत सफल सांगीतिक प्रयोग किये हैं। लेकिन इस फिल्म में उन्होंने चुना है मशहूर पाकिस्तानी गायिका कुरुत उल एन बलूच को। उनकी खनकती आवाज में 'कारी कारी रैना सारी' एक नया अनुभव है जो दर्शक को मीनल, फलक और एंड्रिया की भौतिक-मानसिक स्थिति समझने में मदद करता है। उम्मीद है सरहद पार के उम्दा फनकारों के साथ मिलकर इस देश के संगीतकार आगे और बेहतर धुन हमें देते रहेंगे। इस गीत के बोल गीतकार तनवीर गाजी ने लिखे हैं। "तितलियों के पंखों पर/ रख दिये गये पत्थर" आज की हर एक लड़की की जिन्दगी का सही रूपक है।

इतनी प्रशंसा के बावजूद फिल्म में कुछ कमी भी नजर आयी है जिसको नजरंदाज करना सही नहीं होगा। उपस्थित दर्शकों में से कई लोग फिल्म खत्म होते ही तालियाँ बजाने लगे। जिसका मतलब है फिल्म के दौरान उनके दिलों में जो खरोंच आयी थी वह फिल्म के अन्त तक आते आते संतुष्टि से भर गयी। लेकिन अच्छे कथानक, लेखक, नाटक हमें सोचने को मजबूर करके घर वापस भेजते हैं, सन्तुष्ट करके नहीं।

पिछले साल आई ए एस की भर्ती में अब्बल आने वाला लड़का मुस्लिम था, जिसके चलते इसी दिल्ली में उसे मकान किराये पर नहीं मिल रहा था और अन्ततः उसने हिन्दू नाम से मकान किराये पर

लिया था। लेकिन वहीं इस फिल्म में हम देखते हैं अमर-अकबर-ऐन्थनी वाली स्थिति-मकान मालिक बिना झिझक एक हिन्दू, एक मुस्लिम और एक इसाई लड़की को मकान किराये पर भी देते हैं और उन पर बेइन्तहा भरोसा भी करते हैं!!

कुल मिलाकर कुछ त्रुटियों के बावजूद यह फिल्म पूरे उत्तर भारत और खासकर राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र को आईना दिखाती है। यह काम यहाँ पले-बढ़े, इस मिट्टी के तर्क-कुतर्क, रीति-रिवाज को जानने-समझने वाले लोग ही कर सकते थे। इस इलाके में

एक तरफ हम देखते हैं चमचमाती ल्युटिएन'स दिल्ली, गुडगाँव, नोएडा, फरीदाबाद का कॉरपोरेटों के हाथ लुटना और दूसरी तरफ इसी विकृत विकास की उपज, सामाजिक विकृतियाँ। जिसके चलते नयी पीढ़ी शिक्षित समझदार होने के वजाय कुंठित हो रही है। नौजवान पीढ़ी इसका सबसे आसान और भारी संख्या में शिकार है। खाप पंचायत के स्वर्ग राज्य में गिरता लैंगिक अनुपात रोज-रोज लड़कियों को अपनी कुंठा और हवस का शिकार बनाता है। ताजा उदहारण के रूप में हरियाणा के

मेवात में गौ-रक्षकों द्वारा बलात्कार के समर्थन में दी गयी सफाई है-- उनको गाय के माँस खाने की सजा दी है महात्माओं ने!! इस घृणित स्थिति को किस तरह से अदालत में भी स्थापित किया जाता है उसे इस फिल्म में दिखाया गया है। इसलिए जरूरी है कि इस फिल्म को देखा/दिखाया जाये। इसमें उठाये गये मुद्दों पर स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय या गाँव-मोहल्ले में लोगों की भागीदारी के साथ बातचीत और बहस हो।



गाँव हर्हा (मेरठ) की स्वास्थ्य समस्या पर एक रपट

गाँव का नाम-- हर्हा (मेरठ)

10 अक्टूबर को जनवाणी अखबार की खबर पढ़कर जिसमे हर्हा गाँव में 50 से ज्यादा मौतों की पुष्टि की गयी थी, नौजवान भारत सभा के तीन साथी 12 अक्टूबर को गाँव में गये और लोगों से बात की, जिनमें निम्नलिखित चीजें नजर आयी-

- गाँव की आबादी 15 हजार से अधिक है, जिसमे लगभग 10 प्रतिशत हिन्दू हैं और बाकी मुस्लिम।

- गाँव में बात करने पर पता चला कि सितम्बर माह से शुरू हुए बुखार ने एक माह में ही माहमारी का रूप ले लिया है, जिसके चलते लगभग 150 लोगों की मौत हो चुकी है।

- हर घर में कम से कम एक व्यक्ति बुखार के चलते बिस्तर पर नजर आया, कहीं-कहीं पर पूरा परिवार ही अस्पताल में भर्ती है।

- मरने वालों में 5-40 वर्ष की आयु के लोगों की अधिकता है।

- चिकनगुनिया, टाइफाइड, मलेरिया से अधिकतर लोग ग्रसित नजर आये।

- गाँव में प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र के नाम पर बिना डिग्री वाले झोलाछाप डॉक्टर नजर आये।

- गाँव के लगभग 70 प्रतिशत नलके सरकार द्वारा की गयी जाँच में फेल पाये गये हैं, जिसका मुख्य कारण 2 किलोमीटर की दूरी पर ही बहती काली नदी है, लेकिन फिर भी लोग उन्हीं का पानी पीने को विवश है।

- गाँव का गन्दा पानी नालियों से ज्यादा सड़कों पर बहता नजर आया, प्रशासन की नजरअन्दाजी साफ झलकी, गरीब मजदूरों की बस्तियों का हाल और भी दूभर था एक जगह तो कूड़े का बड़ा ढेर दिखाई पड़ा जिसे लेकर वहाँ के लोग गुस्से में नजर आये उन्होंने अपनी बिमारी का मुख्य कारण उसे बताया।

- इतनी मौतें होने के बावजूद भी प्रशासन का सारा काम कागज पर ही चल रहा है, उनका कहना है की अब तक गाँव में 23 कैम्प लगा दिये गये है पर वास्तविकता में मुस्किल से ही एक-दो कामचलाऊ कैम्प लगाये गये वे भी केवल मुख्य सड़क पर ही जिनका फायदा पूरा गाँव नहीं उठा पाया।

- गरीब बस्तियों में मौतों का कारण दवाई का अभाव नजर आया, किसी भी सरकारी महकमे की मदद उन तक नहीं पहुँची।

लोगों की फौरी जरूरत को समझते हुए "नौजवान भारत सभा- मेरठ" की ओर

से 19 अक्टूबर को गाँव में मेडिकल कैम्प का आयोजन किया गया। जिसमें 2 पुरुष और दो महिला डॉक्टर शामिल हुए। शामिल सभी डॉक्टर एमबीबीएस थे। सामान्य बुखार, टाइफाइड, मलेरिया, एलर्जी, आदि से सम्बन्धित लगभग 40 तरह की दवाईयों का वितरण किया गया। कैम्प को गरीब बस्तियों के पास लगाया गया। कैम्प 1 बजे से 5 बजे तक चला, जिसमें लगभग 300 बीमार ग्रामीणों ने उचित दवाईयों प्राप्त की। कैम्प में खून की जाँच भी की गयी। कैम्प में बुखार के मरीजों का प्राथमिकता में उपचार किया गया। इसके अलावा बड़ी संख्या में एलर्जी, पेट दर्द और त्वचा रोगों से लोग पीड़ित नजर आये। कैम्प में आने वालों में अधिकतर संख्या गरीब मुस्लिम महिलाओं की थी। इसके साथ ही नौजवान भारत सभा के कार्यकर्ताओं ने गाँव में घूम-घूमकर जागरूकता के लिए पर्चे भी बाँटे, जिनमें बिमारियों से बचने के सामान्य दिशा-निर्देश लिखे गये थे। नौजवान भारत सभा के कार्यकर्ताओं ने लोगों से इन बिमारियों के मूल कारणों को समझने पर भी जोर दिया, दूषित होता भूजल, स्वास्थ्य सुविधाएँ आदि अनेक समस्याओं पर एकजुट होकर संघर्ष की तरफ बढ़ने को कहा।



प्रगतिशील कवि केदारनाथ अग्रवाल

-द्वारिका प्रसाद चारुमित्र

प्रगतिशील काव्य-परम्परा साधारण जन-जीवन की असाधारण ऊर्जा व्यक्त करने वाली परम्परा रही है। इस परम्परा का मनुष्य कल्पनाओं के आसमान में उड़ते रहने वाला नहीं, बल्कि अपनी जमीन से जुड़ा मनुष्य है। मनुष्य को अपनी जड़ों से काटने वाले आज के साम्राज्यवादी वैश्वीकरण के दौर में प्रगतिशील काव्य परम्परा को जानना, उसके बारे में चर्चा-परिचर्चा करना और उसे अपने समाज से जोड़कर समझना नयी पीढ़ी के लिए जरूरी है।

जनसाधारण के जीवन को व्यक्त करते हुए उसे नया जीवन देना प्रगतिशील काव्य परम्परा का लक्ष्य रहा है। त्रिलोचन के शब्दों में प्रगतिशील कवि “उस जनपद का कवि” है “जो भूखा-दूखा है, नंगा है”। वह “नहीं जानता कला कविता क्या होती है।” उसके न जानने पर भी कला और कविता की सार्थकता उसी के लिए होने में है। उसके लिए होने में ही कला की प्रगतिशीलता है। यही कारण है कि कलाहीन और भेदस कहे जाने का खतरा उठाते हुए भी प्रगतिशील कवियों ने लोकछन्दों और जनभाषा को कविता का माध्यम बनाया। कविता जन के लिए हो, इस उद्देश्य से तुकान्त, अतुकान्त, ग्रामगीत, समूहगीत, मुक्तछन्द, गद्यात्मकता आदि सभी तरह के प्रयोग किये। इन प्रयोगों के द्वारा ‘जनजीवन को व्यक्त करते हुए उसे नया जीवन देने’ की कोशिश लगातार की। सब तरह से हारा हुआ आदमी हारने न पाये, इसके लिए वह निरन्तर सक्रिय रही। केदार ने कहा-
**“मार हथौड़ा,
कर कर शोर
लाल हुए काले लोहे को**

जैसा चाहे वैसा मोड़।”

यह परम्परा श्रम की गरिमा स्थापित करने वाली परम्परा है। मनुष्य हमेशा श्रम करता आया है लेकिन उस श्रम को सर्वाधिक गौरव प्रगतिशील काव्य परम्परा ने ही दिया है। केदार की ये पंक्तियाँ देखिए-

**“तेज धार का कर्मठ पानी,
चट्टानों के उपर चढ़कर,
मार रहा है
घूँसे कसकर
तोड़ रहा है तट चट्टानी!”**

आज किसान आत्महत्याएँ करते हैं इसलिए कि उनके पास जीने के लिए कुछ नहीं रह जाता। न धरती, न फसल, न मेहनत। उनका अधिकार किसी चीज पर नहीं रहता। समकालीन विकास का प्रपंच उन्हें कर्ज के जाल में ऐसा फाँसता है कि उन्हें आत्महत्या से ही मुक्ति दिखलाई पड़ती है। ऐसे में याद करना जरूरी है कि प्रगतिशील काव्य परम्परा धरती पर उनके अलावा और किसी का अधिकार स्वीकार नहीं करती। केदार के शब्द हैं-

“नहीं कृष्ण की, नहीं राम की/नहीं भीम सहदेव नकुल की/नहीं पार्थ की/नहीं राव की नहीं रंक की/नहीं किसी की नहीं किसी की/धरती है केवल किसान की।”

आकाश नहीं, धरती के गायक हैं कवि केदारनाथ अग्रवाल। उनकी कविता के केन्द्र में यह उस संसार और इसी संसार का मनष्य है, देश-काल से बँधा संघर्षशील मनुष्य। यह प्रगतिवादी आन्दोलन का ही असर था कि पंत जैसे छायावादी कवि भी निर्जन आकाश का परित्याग कर धरती के खुरदुरे यथार्थ पर उतरने के लिए बाध्य

हुए। नागार्जुन, केदार, त्रिलोचन जैसे कवि कल्पना-विलास के अनावश्यक भटकाव से बच गये क्योंकि उनके आने तक हिन्दी कविता में जीवन के प्रति आग्रह बढ़ गया था। उनमें न तो अतीत के प्रति सम्मोहन है; न अद्वैत वेदान्त का सहारा और न ही कल्पना, रहस्य या प्रकृति की छाया में पलायन की चेष्टा। छायावाद की सीमाओं से बचते हुए इन कवियों ने उसकी प्रगतिशील मानववादी परम्परा से अपना नाता जोड़ा। छायावाद में जो कुछ भी श्रेष्ठ है, सुन्दर है, मनुष्य और समाज के हित में है उसे उन्होंने आत्मसात किया। छायावादी कवियों की जीवनप्रियता, स्वतंत्रता, समानता एवं बन्धुत्व की भावना, यातना, मनुष्यता के प्रति असीम करुणा, सामन्तविरोधी साम्राज्यविरोधी मूल्यों को प्रगतिशील कवियों ने अपनी विरासत समझकर विकसित किया। इन कवियों ने छायावाद की इस कमजोरी को भी समझा कि उनका विद्रोह अकेले व्यक्ति का विद्रोह है इसलिए निराला जैसे कवि भी अन्त तक आते-आते अकेला, निराश और टूटा हुआ अनुभव करते हैं। उनके लिए यह समझना जरूरी हो गया कि कवि की वास्तविक मुक्ति जनता के साथ जुड़ने में है, उसके संघर्षों, सुख-दुख एवं आशा-आकांक्षाओं के साथ सक्रिय हिस्सेदारी में निहित है। केदार जैसे प्रगतिशील कवियों के सच्चे मानवतावादी अभिप्राय को इसी बिन्दु से समझा जा सकता है।

केदार की कविता का एक पहलू वह है जहाँ वह अतीत के अन्धविश्वासों पर, भगवान और भजन पर करारी चोट करते हैं और मनुष्य की सृजन-क्षमता में अप्रतिम विश्वास व्यक्त करते हैं; “भजन का नहीं

में भुजों का प्रतापी, भुजों से सृजन को करूँगा अमापी।” यह मनुष्य केन्द्रित इहलोक-परक चिन्तन है जो इस आस्था पर आधारित है कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है। कोई मानवेतर शक्ति उसकी मुक्ति में सहायक नहीं हो सकती। मनुष्य खुद अपने विवेक से इस संसार को बदल सकता है और अपने लिए एक बेहतर दुनिया की रचना कर सकता है। अगर मनुष्य अपनी मुक्ति चाहता है तो सबसे पहले उसे उन तमाम धार्मिक अन्धविश्वासों, रूढ़ियों एवं जड़बद्ध विचारों से मुक्त होना होगा जिन्होंने उसकी वास्तविक मानवीय पहचान धूमिल कर दी है। धार्मिक प्रभामंडल से मुक्त होने का मतलब है मनुष्य का खुद अपने पास लौटना। मनुष्यत्व को प्राप्त करना। यह असीम मानवीय सामर्थ्य का जागरण है; मानवीय सम्भावनाओं की वास्तविक पहचान है-

**ताल को कँपा दिया
कंकड़ से बालक ने
ताल को कँपा दिया
ताल को नहीं**

अनन्त काल को कँपा दिया।

जब एक बच्चा अनन्त काल को कँपा सकता है तो जागा हुआ मनुष्य क्या नहीं कर सकता। वह इतिहास की धारा को मोड़ सकता है। मनुष्य का उद्धारक कोई देवता या दैवी शक्ति नहीं, मनुष्य स्वयं है। ज्ञान-विज्ञान से उपलब्ध यह नया ज्ञान ही मानव जाति के लिए वरदान है। इस नये ज्ञान के आलोक में परम्परागत धार्मिक मूल्य टूटने लगते हैं। श्रमिक वर्ग सोने के देवताओं को अपने श्रम की भट्टी में गलाने लगता है-

**दीन मानव जाति का वह स्वर्ण दिन है
जो हमारे पूज्य प्रभुजी
आर्त्रनाद मनुष्य का सुन
कोयले की आग में आ
रोम से, तन से, हृदय से
आज पहली बार पिघले
दीन मानव जाति का यह स्वर्ण दिन है।**

जनता के धार्मिक अन्धविश्वासों और

भाग्यवादी अवरोधों को तोड़ने के लिए जीवन के प्रति विवेकसम्मत मानसिकता का विकास करना प्रगतिशील कवियों ने जरूरी समझा। राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन के दौर में हमारे समाज में जिस प्रश्नानुकूलता एवं तर्कसंगत दृष्टिकोण का प्रारम्भ हुआ था उसे विकसित करने का गम्भीर कार्यभार प्रगतिशील लेखकों, कलाकारों एवं विचारकों के समक्ष था। आजादी के बाद जो प्रभुवर्ग शासन-सत्ता में आया, उसने धर्मनिरपेक्ष जनतांत्रिक एवं वैज्ञानिक मूल्यों के विकास की कोई परवाह नहीं की। पूँजीवादी जनतांत्रिक क्रान्ति का कार्यभार भी उसके अस्तित्व के लिए खतरा बन गया। यही कारण है कि वह अब तक उस कार्यभार को पूरा करने से कतराता रहा है। उसने सामन्तवाद और उन सामन्ती मूल्यों से समझौता कर लिया जिनसे जीवन के प्रति अविवेकपूर्ण, भाववादी एवं रूढ़िग्रस्त दृष्टिकोण को बढ़ावा मिलता है। जनवादी रचनाकारों के लिए उस स्थिति से निबटना बेहद जरूरी हो गया। उन्होंने बार-बार अपनी रचनाओं में तर्कसंगत और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को पारलौकिक मूल्यों के स्थान पर इसी लोक को और ईश्वर की जगह मनुष्य को प्रतिष्ठित किया-

**मशाल का बेटा धुआँ
गर्व से गगन में गया
शून्य में खोया
कोई नहीं रोया
मशाल की बेटा आग
यहीं धरती पर रही
चूल्हे में आयी
नसों में समायी।**

विडम्बना यह है कि हिन्दी कविता में मानवता, मानव-मूल्य और मानवतावाद की सर्वाधिक दुहाई उन्हीं रचनाकारों की ओर से दी गयी है जो व्यक्तिवाद के घेरे में कैद हैं। इस व्यक्तिवाद को परिभाषित करते हुए केदार लिखते हैं-

**न कुछ जीवी व्यक्ति
कुछ जीवी व्यक्तियों से कटा-कटा
निजत्व में टिका**

अस्तित्व की अजनबी रेखाएँ

खींचते-खींचते

कभी वृत्त

कभी त्रिकोण

कभी बिन्दु

**कभी शून्य के परिवेश का ज्यामितिक
जीवन भोगता है**

न आदमी बनता है

न आदमी लगता है

न द्वन्द्व करता है

न कर्म करता है

निजत्व में लुका छिपा रहता है।

यह स्थिति, दरअसल, पूँजीवादी समाज की उस व्यापक अमानवीकरण की प्रक्रिया की देन है जो न केवल एक व्यक्ति को दूसरे से काटती है वरन आदमी-आदमी के बीच हिंसक और शत्रुतापूर्ण सम्बन्धों को जन्म देती है। शोषण और लाभ-लोभ पर आधारित इस समाज में सहज मानवीय सम्बन्धों और गुणों का लोप होने लगता है। खुदगर्जी व्यक्ति का एकमात्र धर्म बन जाता है। यह मानव व्यक्तित्व का विघटन है-

**हम खो गये हैं/अपने पेट में पैर की
सड़कें**

पेट की सड़कें हो गयी हैं/न दिल/

न दिमाग/न कान/न जबान

आदमी की पहचान जब ‘पेट’ हो जाये तो ‘पुरुष’ का पिटना और ‘पालतू’ बन जाना स्वाभाविक है-

सिर के अन्दर शहर पिट गया है

पेट के अन्दर पुरुष पिट गया है

पाँव हैं

कि पहाड़ तले दबे हैं

हाथ हैं कि कैद काट रहे हैं।

केदार की कविता बेहद मानवीय संसार में आदमी और आस्था की खोज की कविता है-

‘मैं उसे खोजता हूँ

तबाह होकर भी आदमी है

चरित्र पर खड़ा

देवदार की तरह बड़ा

आखिर केदार की कविता का

बुनियादी सरोकार मनुष्य ही तो है। यह मनुष्य अमूर्त, अपरिभाषित अथवा देश काल और वर्ग से निरपेक्ष नहीं है। देश काल और वर्ग से परे उनके लिए मनुष्य की सत्ता ही नहीं है। व्यक्तिवादी रचनाकार जहाँ ठोस ऐतिहासिक परिस्थितायों की तरफ से आँखें मूँदकर सार्वभौम मनुष्यता का राग अलापते हैं वहाँ केदार इतिहास में संघर्षरत मनुष्य को उठाते हैं। अपनी कविताओं में वे उस भारतीय मनुष्य को स्वर देते हैं जो आजादी के पहले और उसके बाद भी तिहरे शोषण चक्र में पिस रहा है, जो लाख मुसीबतें झेलकर भी जिन्दा है और संघर्ष कर रहा है। वे इतिहास की अग्रगामी ताकत, किसान-मजदूरों के प्रति सहानुभूति रखते हैं। उसी के नजरिये से मनुष्य की समस्याओं पर विचार करते हैं। इस दृष्टि से जब वे विचार करते हैं तो उन्हें लगता है कि सन 47 में जो सत्ता का हस्तान्तरण हुआ उसमें एक खास वर्ग को ही आजादी मिली, मेहनतकश वर्ग तो पददलित ही रहा—जागरण का क्रान्तिदर्शी साहसी मनु-रूप **मानव**

अर्थ के पैशाचिकों से पद-दलित है भूमि पर लुण्ठित पड़ा है!!

क्या हुआ यदि आज अपने देश भाई हाथ में झण्डा उठाये घूमते हैं।

वास्तव में तो अभी झण्डा नहीं ऊपर उठा है।

केदार की कविता में एक बेहद अमानवीय संसार की तस्वीर उभरती है जिसमें एक तरफ तो दूसरों के खून-पसीने पर पलने वाला शोषक वर्ग है तो दूसरी तरफ अपने श्रम को बेचने के लिए मजबूर श्रमजीवी। यहाँ अगर आप को 'समाज के त्रस्त क्षेत्र का मस्त महाजन' मिलेगा तो दूसरी तरफ आदमी का बेटा भी-

आदमी का बेटा

गरमी की धूप में भाँजता है फडुआ हड्डी को, देह को तोड़ता है

खूब गहराई से धरती को खोदता है

काँखता है, हाँफता है, मिट्टी को ढोता है

गंदी आबादी के नाले को पाटता है।

इस तरह के सहज यथार्थपरक मनुष्य-बिम्बों की केदार के यहाँ कमी नहीं है। वे इन कविताओं में उत्पीड़ित मनुष्यता की विडम्बनापूर्ण स्थिति को सहज ही उभार कर रख देते हैं और उन परिस्थितियों को बदलने की ओर संकेत करते हैं जिन्होंने मनुष्य को दास, उपेक्षित और पीड़ित प्राणी बना दिया है। देखिए इतिहास की निर्माणकारी शक्ति श्रमजीवी जनता के साथ 'सभ्य समाज' ने यह कैसा सलूक किया है-

घाट, धर्मशाला, अदालतें

विद्यालय, वेश्यालय सारे

होटल, दफ्तर, बूचड़खाने

मन्दिर, मस्जिद, हाट-सिनेमा

श्रमजीवी की उस हड्डी पर

टिके हुए हैं जिस हड्डी को सभ्य आदमी के समाज ने

टेढ़ी करके मोड़ दिया है!!

कहने की जरूरत नहीं कि 'सभ्य आदमी के समाज' के प्रति तीखी घृणा और 'आदमी के बेटों, के प्रति सहज मानवीय संवेदना अनिवार्य हो जाती है। शोषण पर आधारित वर्ग-समाज में सार्वभौम प्रेम और सम्पूर्ण मनुष्यता की दुहाई देना मानववाद नहीं पाखण्ड है। एक तरफ तीखी घृणा और दूसरी ओर गहन मानवीय प्रेम, घृणा और प्रेम की यह द्वन्द्वत्मकता जनवादी कवियों के मानवतावाद को एक विशिष्ट चरित्र प्रदान करती है। वह उसे एक जुझारू एवं क्रान्तिकारी व्यक्तित्व प्रदान करती है जो व्यक्तिवादियों अथवा धार्मिक मानवतावादियों में दुर्लभ है-

मार हथौड़ा

कर कर चोट

लाल हुए काले लोहे को

जैसा चाहे वैसा मोड़

मार हथौड़ा कर कर चोट

लोहू और पसीने से ही

बंधन की दीवारें तोड़।

काटो काटो करबी

साइत और कुसाइत क्या है

जीवन से बढ़ साइत करबी

मारो मारो मारो हँसिया

हिंसा और अहिंसा क्या है

जीवन से बढ़ हिंसा क्या है।

श्रम, सृजन और संघर्ष के गायक हैं केदार। उनकी अनेक कविताओं में श्रम और संघर्ष की मस्ती है तो सृजन की उपलब्धि पर सहज मानवीय उल्लास भी-
रोटी के पैदा होते ही

बुझे नैन में

जुगनू चमके

और थका दिल

फिर से हुलसा

जी हाथों में आया

और होंठ मुस्काये

घर मेरा

वीरान पड़ा

आबाद हो गया।

यह अभावग्रस्त भारतीय परिवार की सामान्य तस्वीर है। यह नागार्जुन की कविता 'अकाल और उसके बाद' की याद दिलाती है। नागार्जुन की तरह ही केदार में लोकजीवन एवं लोकसंस्कृति की गहरी पहचान है। उनकी कविताओं में देश की मिट्टी, हवा, पानी और सामान्य जन अपने सहज रूप में विद्यमान है। यहाँ चन्दू है, चैतू है, गंगा तट के मछुआरे हैं और लोक संस्कृति के रंगों में पगी हुई प्रकृति। जीवन के कठोर यथार्थ की तुलना में यहाँ वे एक अधिक मानवीय संसार की रचना करते हैं। मिसाल के तौर पर प्रकृति का यह चित्र देखें-

धूप चमकती है चाँदी की साड़ी पहने

मैके में आयी बेटी की तरह मगन है

फूली सरसों की छाती से लिपट गयी है

जैसे दो हमजोली सखियाँ गले मिली है

भैया की बाँहों से छूटी भौजाई-सी

लहँगे की लहराती लचती हवा चली है

सारंगी बजती है खेतों की गोदी में।

लोकजीवन एवं जातीय संस्कृति की गहरी पहचान, जीवन का उन्मुक्त उल्लास, ग्रामीण प्रकृति का सहज सौन्दर्य-सब जैसे एक आन्तरिक लय में मुखरित हो उठते हैं। स्वस्थ सामाजिक सौन्दर्यबोध से युक्त इस तरह के प्रकृति-चित्र केदार जैसे समर्थ

कवियों की कलम से ही सम्भव हैं।

आज पूँजीवादी बाजार जिस निर्ममता के साथ रागात्मक सम्बन्ध-सूत्रों को तोड़ने में लगा हुआ है और कुछ रचनाकार जिस तरह कुण्ठा, निराशा, अकेलापन और व्यक्ति स्वातन्त्र्य के गीत गाने में लगे हैं, उसे देखते हुए केदार जैसे प्रगतिशील कवियों का यह राग-बोध क्रान्तिकारी महत्त्व का ठहराता है। उनके साहित्य में व्यक्तिवाद और विकृत एवं पतनशील मूल्यों के लिए कोई जगह नहीं है। उन्होंने अपने काव्य में जिस गहन मानवीय संवेदनशीलता एवं प्रगतिशील सौन्दर्य चेतना का विकास किया है वह आस्था और मानव-प्रगति को बल प्रदान करने वाला है।

केदारजी की कविताएँ आकार में अक्सर छोटी होती हैं लेकिन अपने भावबोध और अर्थगौरव के जरिए जबर्दस्त प्रभाव पैदा करती हैं। उनकी कविताओं में अभिव्यक्ति की सादगी एवं सहजता का सौन्दर्य है। विषयवस्तु के अनुरूप ही वह कविता का शिल्प गढ़ते हैं। इस दृष्टि से वह एक प्रयोगधर्मी कलाकार हैं। यह उल्लेखनीय है कि प्रगतिशील कवियों-- नागार्जुन, केदार, शमशेर और मुक्तिबोध ने जितने प्रयोग किये हैं उतने तो प्रयोगवादियों ने भी नहीं किये। दाम्पत्य-प्रेम के चित्रण में केदारजी अक्सर प्राकृतिक उपादानों का सहारा लेते हैं- 'तुम मिलती हो/जैसे मिलती धूप/आँचल खोले/ सहज स्वरूप।' हे मेरी तुम' की कविताओं में भाषा की यही सादगी और सहजता सर्वत्र विद्यमान है। दूसरी ओर 'मैंने उसको जब-जब देखा/लोहा देखा' कविता में संघर्षधर्मी इस्पाती चेतना की गति और आवेग है-- 'लोहे जैसा जलते देखा/ गलते देखा/ढलते देखा/मैंने उसको/ गोली जैसा चलते देखा।' कभी-कभी कवि को विरोधी शक्ति के समक्ष श्रमिक वर्ग की निर्बलता का भी एहसास होता है लेकिन संघर्ष में अप्रतिम विश्वास को कभी नहीं छोड़ते-

**कैसे जियें कठिन है चक्कर,
निर्बल हम बलीन है मक्कर।**

**तिलझन ताबड़तोड़ कटाकट,
हड्डी की लोहे से टक्कर।**

केदार की कविता में स्थापत्य का सौन्दर्य है। भाव, विचार और संवेदना के अनुरूप वह एक-एक शब्द सोच समझ कर रखते हैं। शब्द-लाघव एवं चित्रमयता की दृष्टि से भी यह कविता बेजोड़ है। मितकथन एवं सांकेतिकता के कारण उनकी कुछ कविताएँ सूक्ति काव्य का आनन्द प्रदान करती हैं, मसलन-

**उड़ जाता है वेतन
जैसे गंध कपूर**

प्रकृति का सुन्दर मनोहारी चित्र खींचने में तो केदारजी का जबाव नहीं।

डॉ. रामविलास शर्मा ने सही कहा है कि 'उनकी प्रकृति सम्बन्धी कविताएँ तो ऐसी हैं जो विश्व की श्रेष्ठतम प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं से टक्कर ले सकती हैं।' 'बसन्ती हवा' जैसी क्लासिक कविता केदार ही लिख सकते थे। इसके शब्द विधान में विलक्षण वेग एवं प्रवाह है। लोक रंग में रंगी हुई प्रकृति का सहज उल्लास एवं मस्ती है। मन-प्राणों में नये जीवन का संचार करने वाली शक्ति के रूप में बसन्ती हवा का चित्रण अपने आप में अनोखा है। ऋतु वर्णन की पारम्परिक रूढ़ियाँ इसके आगे मात हैं। बसन्ती हवा के रूप में एक चंचल, शोख एवं स्वच्छन्द ग्राम बाला की तस्वीर उभरती है। एकदम बिन्दास लड़की का चित्र, जो वर्जनाओं को तोड़ती प्रतीत होती है। बसन्ती हवा की मस्ती कविता के पदविन्यास में शब्द-शब्द में छलक पड़ती है-

**चढ़ी पेड़ महुआ, थपाथप मचाया
गिरी धम्म से फिर, चढ़ी आम ऊपर
उसे भी झकोरा, किया कान में 'कू'
उतर कर भगी मैं हरे खेत पहुँची-
वहाँ गेहुओं में लहर खूब मारी,
पहर दो पहर क्या, अनेकों पहर तक
इसी में रही मैं**

जो लोग केदार में सघन ऐन्द्रिकता का अभाव देखते हैं उन्हें उनकी इस कविता पर भी गौर करना चाहिए-

**जल रहा है
जवान होकर गुलाब;
खोल कर होठ;
जैसे आग
गा रही है फाग**

यह एक बिम्बवादी कविता है। बिम्ब संश्लिष्ट है। कवि ने काम चेतना की 'सफरिंग' का अजब रूपक बाँधा है।

अपने लेखों और कविताओं में केदारनाथ अग्रवाल ने आधुनिकतावादी कला-मूल्यों का निरन्तर विरोध किया है। और जब उत्तर-आधुनिकता का दौर आया तब उन्होंने उन बुद्धिजीवियों का मजाक उड़ाया जो उसकी वकालत कर रहे थे। 15-4-93 की एक कविता में वह लिखते हैं--

**न बौद्धिक हुआ
न आधुनिक
न अकवि हुआ
न उत्तर आधुनिक
होते-होते वही तो हुआ
जो आदमी होना है
न अहं में खोना है
न वहम
में रोना है।**

उत्तर-आधुनिकता को थोड़े में परिभाषित करें तो वह है-- इतिहास का अंत, विचारधरा का अंत, स्वप्न का अंत, कविता का अंत, महाआख्यान का अंत। अंतिमता का यह दर्शन ही उत्तर-आधुनिकता है। उत्तर-आधुनिक बुद्धिजीवी यह भूल जाते हैं कि न तो साम्राज्यवाद-पूँजीवाद का अंत हुआ है और न ही शोषण, गरीबी और विषमता का। इसलिए 'अन्तिमता' का यह दर्शन नहीं चल सकता। जब तक मनुष्य इस धरती पर है उसके सपने भी रहेंगे और संघर्ष भी और कविता भी। केदार जैसे प्रगतिशील कवियों का कविकर्म प्रेरणा का अक्षय श्रोत है। नये कवि उनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं।



बॉब डिलन को साहित्य का नोबेल

--लाल बहादुर वर्मा

'गद्दर को ज्ञानपीठ' जैसी खबर थी 'डिलन को नोबेल'! गद्दर और डिलन को साहित्यकार मानने में ही जब 'पहुँचे हुआ' को ऐतराज हो तो उन्हें मानक पुरस्कार योग्य करार देना 'स्कॉपनाऊ' के उल्लंघन जैसा माना ही जायेगा। कौन है यह बॉब डिलन? श्रेष्ठ अभिजनों को याद हो न हो युवा तो आज भी झूमने लगते हैं डिलन के गीतों को सुनकर। याद करें पिछली शताब्दी में मार्टिन लूथर किंग का वह मार्च जब उन्होंने अमरीका में नस्ली भेदभाव के विरुद्ध वह चमत्कारी भाषण दिया था 'I have a dream!' उनके साथ ही मंच पर उस समय थे बॉब और बाएज। बीसवीं शताब्दी में 60 का दशक, चिले से जापान तक, युवाओं के ऐतिहासिक उद्वेलन से झूम रहा था और बॉब डिलन और जॉन बाएज उसे धुन दे रहे थे। पाँच दशक हो रहे हैं और डिलन अभी भी लोकप्रिय हैं। पर वह साहित्यकार तो नहीं माना जाता!

विध्वंसक डायनामाइट के अविष्कार का मानो प्रायश्चित्त करने अल्फ्रेड नोबेल ने पुरस्कारों की परियोजना शुरू की थी जिसमें एक पुरस्कार साहित्य के लिए भी था। इसमें उनका निर्देश बस इतना था कि उसकी 'दिशा आदर्शवादी' होनी चाहिए। आदर्श की साहित्य में 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' की तरह मान्यता है, यानी जो मानव समाज को प्रेरणा दे और कल्याणकारी हो। नोबेल कमिटी भी इसकी अपने ढंग से व्याख्या करती आयी है और उसने तोल्सतॉय जैसों को भी इस पुरस्कार

योग्य नहीं माना था। सभी पुरस्कारों की तरह नोबेल पुरस्कार भी विवादास्पद रहे हैं। उसकी हकीकत जाननी हो तो सत्यकथा जैसा लिखा उपन्यास 'प्राइज' पढ़ा जा सकता है। बहरहाल इधर बदलती दुनिया के साथ चलने का प्रमाण नोबेल समिति ने भी देना शुरू किया है। इसका प्रमाण है दारिओफो जैसे जन नाट्यकार को पुरस्कृत करना। इस वर्ष तो डिलन को यूनान और अमरीका की गीत परम्परा से जोड़ते हुए उनके योगदान को श्रेष्ठ साहित्यिक सृजन की मान्यता देना एक चरमोत्कर्ष जैसा है।

इतिहास साक्षी है मानव समाज के सभी अविष्कारों को शासक समुदाय हथिया कर अपने हित पोषण में लगाते रहे हैं-- भाषा, लेखन, साहित्य, संस्कृति सबको विज्ञान तक को। लेखन के अविष्कार के बाद वाचिक परम्पराओं का अवमूल्यन हुआ। फिर सभी लोक परम्पराओं की अलग दोगम दर्जे की कोटि बना दी गयी। समय आ गया है कि 'लोक' जैसी अलग भ्रामक कोटियों को खारिज कर मानव समाज की हर प्रकार की सृजनशील अभिव्यक्तियों को बराबर का सम्मान और स्वीकृति मिले। व्यक्तियों की रुचियाँ अलग-अलग हो सकती हैं।

डिलन को मिला नोबेल पुरस्कार लोक की स्वीकृति और साहित्य-संस्कृति के सृजनात्मक विस्तार की प्रक्रिया में उत्प्रेरक (पॉजिटिव कैटेलिस) का काम कर सकता है।

हवा में गूँज रहा है...

कितनी सड़कों की धूल फाँके एक आदमी इसके पहले कि तुम्हारी नजर में आदमी हो सके?

कितने समुद्र पार करे एक सफेद कबूतर इसके पहले कि वह रेत के ऊपर सो सके? हाँ, तोप के गोलों को कितनी बार दागना जरूरी है

इसके पहले कि उस पर हमेशा के लिए रोक लगे?

जवाब हवा में गूँज रहा है मेरे दोस्त हवा में गूँज रहा है जवाब।

हाँ, कितने वर्षों तक टिका रह पायेगा पहाड़ इसके पहले कि वह बहकर समुद्र में मिल जाये?

हाँ, कितने सालों तक बचे रहेंगे कुछ लोग इसके पहले कि उनको आजादी का हक मिले?

हाँ, कितनी बार कोई आदमी अपना मुँह फेरेगा

यह दिखाने के लिए कि उसने कुछ नहीं देखा?

जवाब हवा में गूँज रहा है मेरे दोस्त हवा में गूँज रहा है जवाब।

हाँ, कितनी बार एक आदमी निहारेगा ऊपर इसके पहले कि वह आकाश को देख पाये? हाँ, किसी आदमी के कितने कान होने चाहिए इसके पहले कि वह सुन सके लोगों की चीख-पुकार?

हाँ, उसे कितने लोगों की मौत की दरकार है यह जानने के लिए कि मर गये बहुत सारे लोग?

जवाब हवा में गूँज रहा है मेरे दोस्त हवा में गूँज रहा है जवाब।

(जन गायक बॉब डिलन के गीत अनुवाद-दिगम्बर)

भगत सिंह और सावरकर : अपने-अपने नायक ?

(भगत सिंह और विनायक दामोदर सावरकर-- दोनों ने भारत को अंग्रेजों से मुक्त कराने का सपना देखा, उसके लिए काम किया। लेकिन दोनों की सोच, तरीके और जज्बे में बुनियादी अन्तर था। इन दोनों स्वतंत्रता सेनानियों ने ही अपने-अपने संकल्प और सपने के अनुरूप अंग्रेज अधिकारियों को पत्र लिखे। हम दोनों के एक-एक पत्र को यहाँ हूबहू छाप रहे हैं ताकि पाठकों के सामने इन दोनों सुविख्यात चरित्रों की तस्वीर उनके अनुयायियों के महिमामण्डन से नहीं, बल्कि उन्हीं के शब्दों से बने--सम्पादक)

भगत सिंह का पत्र गवर्नर पंजाब (शिमला) के नाम

महोदय

उचित सम्मान के साथ हम नीचे लिखी बातें आपकी सेवा में रख रहे हैं।

भारत की ब्रिटिश सरकार के सर्वोच्च अधिकारी वाइसराय ने एक विशेष अध्यादेश जारी करके लाहौर षड्यन्त्र अभियोग की सुनवाई के लिए एक विशेष न्यायाधिकरण ट्रिब्यूनल स्थापित किया था, जिसने 7 अक्टूबर, 1930 को हमें फाँसी का दण्ड सुनाया। हमारे विरुद्ध सबसे बड़ा आरोप यह लगाया गया है कि हमने सम्राट जॉर्ज पंचम के विरुद्ध युद्ध किया है।

न्यायालय के इस निर्णय से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं--

पहली यह कि अंग्रेज जाति और भारतीय जनता के मध्य एक युद्ध चल रहा है। दूसरे यह कि हमने निश्चित रूप में इस युद्ध में भाग लिया है, अतः हम युद्धबन्दी हैं।

यद्यपि इनकी व्याख्या में बहुत सीमा तक अतिशयोक्ति से काम लिया गया है तथापि हम कहे बिना नहीं रह सकते कि ऐसा करके हमें सम्मानित किया गया है। पहली बात के सम्बन्ध में हम तनिक विस्तार से प्रकाश डालना चाहते हैं। हम नहीं समझते कि प्रत्यक्ष रूप से ऐसी कोई लड़ाई छिड़ी हुई है। हम नहीं जानते कि युद्ध छिड़ने से न्यायालय का आशय क्या है? परन्तु हम इस व्याख्या को स्वीकार करते हैं और साथ ही इसे इसके सन्दर्भ में समझाना चाहते हैं।

युद्ध की स्थिति

हम यह कहना चाहते हैं कि युद्ध छिड़ा हुआ है और यह लड़ाई तब तक चलती रहेगी जब तक कि शक्तिशाली व्यक्तियों ने भारतीय जनता और श्रमिकों की आय के साधनों पर अपना एकाधिकार कर रखा है-- चाहे ऐसे व्यक्ति अंग्रेज या सर्वथा भारतीय ही हों, उन्होंने आपस में मिलकर एक लूट जारी कर रखी है। चाहे शुद्ध भारतीय पूँजीपतियों के द्वारा ही निर्धनों का

खून चूसा जा रहा हो तो भी इस स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। यदि आपकी सरकार कुछ नेताओं या भारतीय समाज के मुखियाओं पर प्रभाव जमाने में सफल हो जाये, उनको कुछ सुविधाएँ मिल जायें, इससे भी स्थिति बदल नहीं सकती तथा जनता पर इसका प्रभाव बहुत कम पड़ता है। हमें इस बात की भी चिन्ता नहीं कि युवकों को एक बार फिर धोखा दिया गया है और इस बात का भी भय नहीं है कि हमारे राजनीतिक नेता पथभ्रष्ट हो गये हैं और वे समझौते की बातचीत में इन निरपराध, बेघर और निराश्रित बलिदानियों को भूल गये हैं, जिन्हें दुर्भाग्य से क्रान्तिकारी पार्टी का सदस्य समझा जाता है। हमारे राजनीतिक नेता उन्हें अपना शत्रु मानते हैं, क्योंकि उनके विचार में वे हिंसा में विश्वास रखते हैं। हमारी वीरांगनाओं ने अपना सब कुछ बलिदान कर दिया है। उन्होंने अपने पतियों को बलिदेवी पर भेंट किया, भाई भेंट किये और जो कुछ भी उनके पास था, सब न्योछावर कर दिया। उन्होंने अपने आपको भी न्योछावर कर दिया। परन्तु आपकी सरकार उन्हें विद्रोही समझती है। आपके एजेंट भले ही झूठी कहानियाँ बनाकर उन्हें बदनाम कर दें और पार्टी की प्रसिद्धि को हानि पहुँचाने का प्रयास करें, परन्तु यह युद्ध चलता रहेगा।

युद्ध के विभिन्न स्वरूप

हो सकता है कि यह लड़ाई भिन्न-भिन्न दशाओं में भिन्न-भिन्न स्वरूप ग्रहण करे। किसी समय यह लड़ाई प्रकट रूप ले ले, कभी गुप्त दशा में चलती रहे, कभी भयानक रूप धारण कर ले, कभी किसान के स्तर पर युद्ध जारी रहे और मृत्यु की बाजी लग जाये। चाहे जो भी परिस्थिति हो, इसका प्रभाव आप पर पड़ेगा। यह आपकी इच्छा है कि आप जिस परिस्थिति को चाहें चुन लें, परन्तु यह लड़ाई जारी रहेगी। इसमें छोटी-छोटी बातों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। बहुत सम्भव है कि यह युद्ध भयंकर स्वरूप ग्रहण कर ले। पर निश्चय ही यह उस समय तक समाप्त नहीं होगा जब तक कि समाज का वर्तमान ढाँचा समाप्त नहीं हो जाता, प्रत्येक वस्तु

में परिवर्तन या क्रान्ति समाप्त नहीं हो जाती और मानवी सृष्टि में एक नवीन युग का सूत्रपात नहीं हो जाता।

अन्तिम युद्ध

निकट भविष्य में अन्तिम युद्ध लड़ा जायेगा और यह युद्ध निर्णायक होगा। साम्राज्यवाद व पूँजीवाद कुछ दिनों के मेहमान हैं। यही वह लड़ाई है जिसमें हमने प्रत्यक्ष रूप से भाग लिया है और हम अपने पर गर्व करते हैं कि इस युद्ध को न तो हमने प्रारम्भ किया है और न यह हमारे जीवन के साथ समाप्त ही होगा। हमारी सेवाएँ इतिहास के उस अध्याय में लिखी जायेंगी जिसको यतीन्द्रनाथ दास और भगवतीचरण के बलिदानों ने विशेष रूप से प्रकाशमान कर दिया है। इनके बलिदान महान हैं। जहाँ तक हमारे भाग्य का सम्बन्ध है, हम जोरदार शब्दों में आपसे यह कहना चाहते हैं कि आपने हमें फाँसी पर लटकाने का निर्णय कर लिया है। आप ऐसा करेंगे ही, आपके हाथों में शक्ति है और आपको अधिकार भी प्राप्त है। परन्तु इस प्रकार आप 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाला सिद्धान्त ही अपना रहे हैं और आप उस पर कटिबद्ध हैं। **हमारे अभियोग की सुनवाई इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि हमने कभी कोई प्रार्थना नहीं की और अब भी हम आपसे किसी प्रकार की दया की प्रार्थना नहीं करते। हम आपसे केवल यह प्रार्थना करना चाहते हैं कि हमारे प्रति युद्धबन्धियों जैसा ही व्यवहार किया जाये और हमें फाँसी देने के बदले गोली से उड़ा दिया जाये।**

अब यह सिद्ध करना आपका काम है कि आपको उस निर्णय में विश्वास है जो आपकी सरकार के एक न्यायालय ने किया है। आप अपने कार्य द्वारा इस बात का प्रमाण दीजिये। हम विनयपूर्वक आपसे प्रार्थना करते हैं कि आप अपने सेवा-विभाग को आदेश दे दें कि हमें गोली से उड़ाने के लिए एक सैनिक टोली भेज दी जाये।

भवदीय

भगत सिंह, राजगुरु, सुखदेव

सेल्यूलर जेल, अण्डमान से 1913 विनायक दामोदर द्वारा भेजा गया पत्र --भारत सरकार 'होम मेम्बर' के नाम

मैं आपसे नीचे दी गयी बातों पर विचार करने का अनुरोध करता हूँ।

(1) जून 1911 में जब मैं यहाँ आया तो मुझे अपनी पार्टी के दूसरे दोषियों के साथ चीफ कमिश्नर के ऑफिस में ले जाया गया। वहाँ मुझे (डी) श्रेणी यानी खतरनाक कैदी की श्रेणी दी गयी। बाकी दोषियों को (डी) श्रेणी नहीं दी गयी। तब मुझे पूरे छः महीने कैद-ए-तन्हाई में गुजारने पड़े जबकि दूसरे दोषियों को इससे छूट मिल गयी। इस दौरान मुझे काथी (नारियल की रस्सी) से बाँधकर रखा गया, इसके बावजूद कि मेरे हाथों से खून बह रहा था। इसके बाद मुझे जेल के सबसे कठिन काम तेल के कोल्हू पर लगा दिया गया। इस दौरान मेरा आचरण निरअपवाद रूप से अच्छा रहा, फिर भी 6 महीने खत्म होने पर मुझे जेल से बाहर नहीं निकाला गया, जबकि मेरे साथ आये दूसरे दोषियों को बाहर निकाल दिया गया था। तब से आज तक मैंने अपने आचरण को अच्छा रखने की भरसक कोशिश की है।

(2) जब मैंने अपनी श्रेणी में सुधार के लिए निवेदन किया तो मुझे बताया गया कि मैं विशेष श्रेणी का कैदी हूँ इसलिए मेरी श्रेणी नहीं बदली जा सकती। हममें से किसी ने जब भी बेहतर भोजन या किसी विशेष सुविधा की माँग की तो हमें बताया गया कि "तुम साधारण कैदी हो और तुम्हें वही खाना खाना चाहिए जो दूसरे कैदी खाते हैं।" इस प्रकार श्रीमान, महामहिम पायेंगे कि केवल विशेष अहित के लिए ही हमें विशेष कैदियों की श्रेणी में रखा गया है।

(3) जब मेरे अधिकांश सहअभियुक्त बाहर भेज दिये गये तभी मैंने अपनी रिहाई के लिए प्रार्थना की। हालाँकि मुझे दो या तीन बार ही सजा (बेंत से पिटाई?) मिली थी, और जो रिहा किये गये उनमें से कुछ को एक दर्जन या उससे भी ज्यादा बार सजा मिली थी, फिर भी मुझे उनके साथ

रिहा नहीं किया गया इसके बावजूद कि मैं उनका सहअभियुक्त था। लेकिन, आखिरकार जब मेरी रिहाई का आदेश दिया गया और जब बाहर के राजनीतिक कैदियों पर गाज गिरी तो मुझे भी उनके साथ अन्दर कर दिया गया क्योंकि मैं उनका सहअभियुक्त था।

(4) अगर मैं भारतीय जेलों में होता तो अब तक मैंने ज्यादा छूट पा ली होती, घर ज्यादा पत्र भेज लिये होते, मुलाकातें कर ली होती। अगर मैं निर्वासित कैदी होता तो साफ है कि अब तक इस जेल से रिहा हो गया होता। लेकिन वास्तविकता यह है कि मुझे न तो भारतीय जेलों के लाभ मिले और न ही इस कैदी-कालोनी के, जबकि नुकसान दोनों के भुगतने पड़े।

(5) इस आधार पर क्या महामहिम, जिस असंगत परिस्थित में फँसा हूँ, या तो मुझे भारतीय जेलों में भेजकर या मुझसे एक निर्वासित कैदी वाला बर्ताव करके, इस परिस्थिति का अन्त करने की कृपा करेंगे। मैं किसी तरजीह बर्ताव की माँग नहीं कर रहा हूँ, हालाँकि एक राजनीतिक कैदी होने के चलते मेरा विश्वास है कि स्वाधीन राष्ट्रों में किसी सभ्य प्रशासन से इतनी छूट और लाभ की उम्मीद की जानी चाहिए जितने सर्वाधिक दुष्ट दोषियों और आदतन अपराधियों को दिये जाते हैं। हमेशा के लिए मुझे इस जेल में कैद रखने की मौजूदा योजना मुझे जीवन और उम्मीद को कायम रखने की किसी भी सम्भावना के प्रति बिल्कुल आशाहीन बना देती है। जो मियादी बन्दी हैं उनकी बात अलग है, लेकिन श्रीमान मेरे सामने 50 साल हैं, मैं उन्हें इस कठोर कारावास में गुजारने के लिए प्रयाप्त नैतिक ऊर्जा कैसे हासिल कर सकता हूँ जबकि उन छूटों की, जिनका निकृष्टतम अपराधी भी अपने जीवन को आसान करने के लिए दावा कर सकता है, मेरे लिए मनाही है। या तो मुझे भारतीय जेलों में भेजने की कृपा करें जहाँ मैं-- (क)

छूट हासिल कर सकूँ, (ख) हर चार महीने में अपने उन बिरादरों से मिल सकूँ जो दुर्भाग्यवश अभी भी जेल में हैं, सोचिए अपने सगों और प्यारों से कभी-कभी मिल लेना कितना बड़ा वरदान है, (ग) सबसे ज्यादा, 14 सालों में रिहाई का पात्र बनने का नैतिक, हालाँकि वैधानिक नहीं, अधिकार पा सकूँ (घ) ज्यादा पत्र भेज सकूँ और दूसरे मामूली लाभ भी हासिल कर सकूँ या, यदि मुझे भारत नहीं भेजा जा सकता तो मुझे रिहा कर देना चाहिए और दूसरे कैदियों की तरह 5 साल बाद, वापस आने की आशा में अपना कारा-अवकाश हासिल करने और अपने परिवार को यहाँ ले आने के लिए बाहर भेज देना चाहिए। अगर यह मंजूरी दे दी गयी तब केवल एक शिकायत शेष बचती है कि मुझे केवल अपने अपराधों के लिए दोषी ठहराया जाना चाहिए दूसरों के अपराधों के लिए नहीं। यह बेहद अफसोस जनक है कि मैं इसके लिए याचना कर रहा हूँ— यह दया हर इनसान के मूलभूत अधिकार जैसी है। जिसके लिए एक ओर 20 राजनीतिक कैदी हैं— युवा, क्रियाशील और अथक, और दूसरी ओर एक दोषियों की कालोनी की बन्दिशें हैं जो अपनी-अपनी मूल प्रवृत्ति से ही विचार और अभिव्यक्ति की आजादी को न्यूनतम सम्भव स्तर तक घटा देने वाली हैं। बल्कि यह अवश्यमभावी है कि जब तक उनमें से कोई एक किसी बन्दिश को तोड़ता पाया जायेगा और दो या सभी को उसके लिए जिम्मेदार ठहराया जायेगा, जैसा कि वास्तव में अब किया गया है। तब मेरे बाहर रहने की सम्भावना बहुत कम बचती है।

और अन्त में, महामहिम मैं आपको आपकी उस नेकी की याद दिलाता हूँ, जो आपने 1911 में मेरी दया याचिका पर सविस्तार विचार करके उसे आपने सरकार के पास भेजने की मंजूरी देकर दिखायी थी।

भारतीय राजनीति और सरकार की सांत्वना देने की नीति की हालिया प्रगति एक बार फिर संवैधानिक सोच को सामने लायी है।

अब भारत और मानवता का दिल से भला चाहने वाला कोई भी आदमी अन्ध

होकर उन कटीले रास्तों पर कदम नहीं बढ़ायेगा जिन्होंने 1906-07 की भारत की उत्तेजक और आशाहीन स्थिति में हमें शान्ति और विकास के रास्ते से भटकाया था।

इसलिए **यदि सरकार अपनी नानारूपी नेकी और दया से मुझे रिहा करती है, जिसका मैं पात्र नहीं हूँ लेकिन बन सकता हूँ, संवैधानिक प्रगति और उस अंग्रेज सरकार की वफादारी का निष्ठावान पैरोकार बनूँगा जो इस प्रगति की सबसे महत्त्वपूर्ण शर्त है।**

जब तक हम जेलों में है तब तक भारत में महामहिम के वफादार सैकड़ों हजारों घरों में वास्तविक हर्षोल्लास नहीं हो सकता क्योंकि खून पानी से ज्यादा गाढ़ा होता है। लेकिन **यदि हमें रिहा कर दिया गया तो लोग स्वयं ही उस सरकार के प्रति हर्ष और कृतज्ञता का नारा लगायेंगे जो सजा देने और बदला लेने की अपेक्षा माफी देने और सुधरने को ज्यादा तरजीह देती है।**

यही नहीं, संवैधानिक सोच के हित में मेरा रूपान्तरण भारत और उससे बाहर के उन सभी भटके हुए नौजवानों को वापस ले आयेगा जो कभी मुझे अपना नेता मानते थे। मैं सरकार की, जैसे भी वह चाहे वैसे ही, सेवा करने को तैयार हूँ। चूँकि मेरा रूपान्तरण निष्कपट है इसलिए मैं आशा करता हूँ कि भविष्य में मेरा व्यवहार भी ऐसा ही होगा। मुझे जेल में रखकर, उसकी तुलना में कुछ भी हासिल नहीं किया जा सकता, जो मुझे बाहर रखकर किया जा सकता है।

केवल शक्तिशाली ही दयावान हो सकता है और इसलिए लम्पट बेटा सरकार के पैतृक दरवाजे के अलावा और भला कहाँ जायेगा।

इस आशा में कि महामहिम इन बातों पर ध्यान देंगे।

विनायक दामोदर सावरकर **दोनों पत्र आपकी निगाहों से गुजरे। भारत के लिए जिसके मन में जैसा सपना और उसे हासिल करने का जैसा जज्बा होगा, वह अपना नायक भी वैसा ही चुनेगा।**



गाँधी जयंती, जलवायु समझौता और हजारीबाग गोलीकाण्ड

कल गाँधी जी की 147 वीं जयन्ती थी। कल ही वाशिंगटन में भारत सरकार ने जलवायु परिवर्तन पर हुए पेरिस समझौते पर हस्ताक्षर किया। विश्व विजेता पूँजीवाद जो पर्यावरण बचाने के ढकोसले करता है, वही पर्यावरण विनाश का मुख्य अपराधी है। भारत सरकार ने इसी ढकोसले पर अपनी सहमति जतायी।

औद्योगिक पूँजीवाद द्वारा प्राकृतिक संसाधनों की बेलगाम लूट के खतरों के प्रति गाँधी जी ने बहुत पहले ही आगाह किया था। समझौते पर हस्ताक्षर करने गये भारतीय प्रवक्ता ने गाँधी जी को उद्धृत भी किया—

“धरती, हवा, जमीन और पानी हमारे पुरखों की विरासत नहीं, बल्कि हमारे बच्चों का हमारे ऊपर कर्ज हैं। इसलिए हमें उनको कम से कम उतना तो लौटाना ही होगा, जितना उन्होंने हमें सौंपा था।”

लेकिन विश्व मंच पर गाँधी जी का नाम लेकर पर्यावरण बचाने के घोखे भरे समझौते पर दस्तखत करने वाले हमारे रहनुमा इस देश की जनता के साथ क्या सलूक कर रहे हैं?

गाँधी जयन्ती से एक दिन पहले हजारीबाग (झारखण्ड) में प्राकृतिक संसाधनों के बेलगाम दोहन और उसके लिए अपनी जमीन से उजाड़े जाने के खिलाफ सत्याग्रह कर रहे लोगों पर पुलिस ने गोली चलायी जिसमें सात लोग मरे गये और दर्जनों लोग घायल हुए।

यह नरसंहार कोई पहली बार नहीं हुआ है। कॉरपोरेट घरानों की स्वार्थपूर्ति के लिए आजादी के बाद से आज तक दो करोड़ से ज्यादा लोगों को (खासकर आदिवासियों) को अपनी जमीन से उजाड़कर दर-दर की ठोकर खाने को मजबूर किया गया है। पहले यह काम गाँधी जी के अनुयायी किया करते थे, आज उनके हत्यारे को आदर्श मानने वाले भी गाँधी जी का नाम ले कर वही कर रहे हैं।



दक्षिण चीन सागर विवाद

एक ध्रुवीय विश्व-व्यवस्था में एक और दरार

-प्रवीण कुमार

चीन ने दक्षिण चीन सागर विवाद पर हेग स्थित अन्तरराष्ट्रीय न्यायाधिकरण-परमानेंट कोर्ट ऑफ आरबीट्रेशन के 11 जुलाई फैसले को मानने से इनकार कर दिया। इस नकार के बाद अमरीका ने चीन को थोड़ी गीदड़-धमकी तो जरूर दी, लेकिन उसे बाकी दुनिया से अपेक्षित समर्थन नहीं मिला।

अधिकरण ने फैसला दिया था कि जिस '9-डैश लाइन' के तहत चीन ने दक्षिण चीन सागर के विवादित क्षेत्रों पर दावा किया है, वह समुद्री नियमों पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन का उल्लंघन है। वैसे तो चीन ने फैसला आने के पहले ही घोषणा कर दी थी कि वह इस अधिकरण के किसी भी फैसले को स्वीकार नहीं करेगा, क्योंकि यह विवाद उसके न्यायिक क्षेत्र से बाहर है। चीन का तर्क है कि विवादित क्षेत्र द्वीपों और टापुओं के रूप में है और न्यायाधिकरण को केवल समुद्र सम्बन्धी मामलों में ही फैसला देने का अधिकार है। न्यायाधिकरण ने माना है कि दक्षिण चीन सागर के द्वीपों का इस्तेमाल चीन प्राचीन समय से करता रहा है, लेकिन इसमें कभी पानी पर दावा पेश नहीं किया है और इसके पास '9-डैश लाइन' के अन्दर के संसाधनों पर ऐतिहासिक दावा करने का वैधानिक आधार नहीं है।

2013 में अमरीकी दबाव में फिलीपींस ने चीन को एक द्वीप श्रृंखला पर कब्जा सम्बन्धी विवाद में इस अन्तरराष्ट्रीय अदालत में खींचा था। चीन और फिलीपींस दोनों ही संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन के समुद्री नियमों को स्वीकार कर चुके हैं, लेकिन इन पड़ोसियों को अदालत में जाने को मजबूर करने वाले अमरीका ने आज तक इन नियमों को स्वीकार भी नहीं किया है।

चीन की दक्षिणी स्थल सीमा तथा वियतनाम, मलेशिया, ब्रुनोई, फिलीपींस और ताइवान की स्थल सीमाओं से घिरे समुद्र को दक्षिणी चीन सागर के नाम से जाना जाता है। इसका अधिकांश हिस्सा छिछला है और इसमें स्प्रेटेली, स्कोर्बोरी, थिवू आदि द्वीप समूह और टापू हैं, जिनकी कुल संख्या 291 है। दुनिया के सघन जैव विविधता वाले और सुन्दरतम स्थानों में से एक होने के साथ-साथ यह बेहद महत्वपूर्ण समुद्री मार्ग है। यह तमाम पूर्वी और दक्षिणी पूर्वी देशों को भारतीय उपमहाद्वीप, खाड़ी के देशों, अरब जगत के देशों और अफ्रीका से जोड़ता है। दुनिया के कुल समुद्री व्यापार का लगभग एक तिहाई इसी मार्ग होता है।

दूसरे विश्व युद्ध के बाद से ही इस क्षेत्र में अमरीका का वर्चस्व रहा है। लेकिन इस शताब्दी में चीन के उभार के बाद यहाँ अमरीका की पकड़ कमजोर हुई और चीन की बढ़ी है। पूँजीवादी विश्व का

निर्विवाद (लेकिन बूढ़ा) नेता होने के नाते वह इस क्षेत्र पर अपना वर्चस्व चाहता है, लेकिन इसके साथ ही नयी आर्थिक शक्ति के रूप में स्थापित हो चुका चीन अपने लिए भू-राजनीति में भी महत्वपूर्ण स्थान चाहता है। यह टकराव ही मौजूदा विवाद का मूल कारण है।

1946 में चीन के नाविकों ने अमरीकी युद्धपोत पर सवार होकर ही दक्षिण चीन सागर के तमाम द्वीपों की पहचान की थी। तब सभी द्वीप श्रृंखलाओं को घेरते हुए एक काल्पनिक रेखा की पहचान की गयी थी और इसके अन्दर के क्षेत्र को चीनी क्षेत्र माना गया था। इस नक्शे को 1952 के सैनफ्रांसिस्को शान्ति सन्धि में भी स्वीकार किया गया था।

यह विवाद दुनिया के सामने खुलकर तब आया जब 2010 में बराक ओबामा की सरकार ने अपनी रणनीति 'एशिया की ओर' पर काम करना शुरू किया और अमरीका इस क्षेत्र में पुनः सन्तुलन के लिए आ धमका। उसके घुसने के चार बहाने थे— ताइवान मुद्दा, तिब्बत मुद्दा, उत्तरी कोरिया का नाभिकीय शक्ति बनना और दक्षिणी चीन सागर का मुद्दा। इनमें केवल दक्षिणी चीन सागर के मुद्दे पर ही अमरीका चीन के खिलाफ उसके पड़ोसियों को खड़ा कर सकता था और चीन को फँसा सकता था।

2010 में वियतनाम में हुए एशिया-प्रशान्त सहयोग (एपेक) के सम्मेलन में हिलेरी क्लिंटन ने अचानक इस मुद्दे को आक्रामक तैवर के साथ उठाया और दक्षिण की भू-राजनीति में जबरन दखलन्दाजी करते हुए घोषणा की कि "अमरीका मुक्त नौवहन को कायम रखने के लिए वचनबद्ध है।" क्षेत्र में वर्चस्व का एक बहुत बड़ा मुद्दा अचानक पैदा हो गया।

'एशिया का पुनः सन्तुलन' की नीति को लेकर जब से अमरीका इस क्षेत्र में घुसा है, यह क्षेत्र हथियारों के जखीरे में तब्दील होता जा रहा है। अमरीका अपनी नीति को आगे बढ़ा रहा है और चीन के लिए भी '9-डैश लाइन' से पीछे हटना आसान नहीं। अमरीका ने अपनी नीति के लिए फिलीपींस को मोहरा बनाया। उसे उकसाया और दबाव बनाकर, 2013 में द्वीपों पर दावेदारी के मामले को अन्तरराष्ट्रीय न्यायाधिकरण में ले जाने को मजबूर किया। इसके साथ-साथ अमरीका फिलीपींस में 5 सैन्य अड्डे बनाने की मंजूरी भी हासिल कर चुका है। चीन पर दबाव बनाने के लिए अमरीका ने जापान से 2013 में क्षेत्र में एक युद्धपोत तैनात करवाया और बाद में अपना विमानवाहक पोत भी

शेष पृष्ठ 26 पर...

हर बात जो आप तुर्की में तख्तापलट के बारे में जानना चाहते हैं

--पैट्रिक कॉकबर्न

तख्तापलट क्यों किया गया?

इसके लिए यह धरना बनाना जरूरी है कि तख्तापलट किसने किया। एक राय यह है कि आत्म-निर्वासित धर्मगुरु फतेहुल्ला गुलेन के अनुयायियों को जानकारी मिली कि उनका सफाया होने वाला है और उन्होंने पहले हमला करने का फैसला किया।

क्या तख्तापलट राष्ट्रपति रिसेप तईप एरडोगन द्वारा गढ़ा गया था ताकि उनको दमन करने का बहाना मिल जाये?

इस बात की सम्भावना अधिक है कि श्रीमान एरडोगन एक वास्तविक तख्तापलट का फायदा उठा रहे हों ताकि वे सशस्त्र बालों और राज्य की प्रमुख संस्थाओं में शामिल उन सभी लोगों से छुटकारा पा लें जो उनके प्रति पूरी तरह वफादार नहीं हैं।

उन्होंने इसे इस मायने में "खुदा की नेमत" कहा कि इससे उनको अपने मन की करने की इजाजत मिल गयी। इस राय के खिलाफ कि तख्तापलट मनगढ़ंत था, एक तर्क यह है कि इसमें सेना के बड़े अधिकारियों सहित बहुत ज्यादा लोग शामिल थे और अगर तख्तापलट को अंजाम देनेवाले लोग एरडोगन का सफाया करने में सक्षम होते तो तख्तापलट में कामयाब भी हो सकते थे।

तख्तापलट असफल क्यों हुआ?

इसे अंजाम देनेवालों ने एरडोगन को खत्म नहीं किया और सेना के हाईकमांड में से बहुसंख्य लोगों को इस कार्रवाई में शामिल नहीं किया। उन्हें आम जनता का समर्थन हासिल नहीं था तथा वे संचार और मीडिया पर नियंत्रण कायम नहीं कर पाये। उनके पास इतने सैनिक नहीं थे कि वे राष्ट्रपति के समर्थन में होनेवाले प्रदर्शनों को दबा सकें। तख्तापलट का समय भी विचित्र था क्योंकि यह परम्परागत रूप से भोर से पहले न होकर शुक्रवार की देर रात में हुआ जब लोग जगे हुए थे और घर से बाहर निकले हुए थे।

क्या नागरिकों की प्रतिक्रिया को बाधा-चढ़ा के प्रचारित किया गया?

एरडोगन तख्तापलट को नाकाम करने के लिए टीवी कैमरा के आगे रखे हुए आईफोन से सन्देश देकर नागरिक प्रदर्शनों का आह्वान करने में सफल रहे। जितनी राय बनाना सम्भव है, यह काम उनके समर्पित समर्थकों और दक्षिणपंथी राष्ट्रवादियों ने किया। सड़कों पर उतरनेवालों की संख्या बढ़ाने के लिए सोमवार की रात तक

मुफ्त सरकारी परिवहन का इंतजाम किया गया। तख्तापलट का एक चरित्र यह था कि इसके पक्ष में कोई प्रदर्शन नहीं हुआ क्योंकि तख्तापलट करनेवालों ने कर्फ्यू की घोषणा कर दी थी और एरडोगन के ढेर सरे विरोधी किसी भी हाल में उनकी जगह एक सैनिक सरकार बनने के पक्ष में नहीं थे।

मस्जिदों ने भी अपने प्रभाव क्षेत्र के लोगों को लामबंद करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। जब जेट विमान सर पर मंडरा रहे थे तभी उन्होंने लोगों से सड़क पर उतरने का आह्वान किया और पूरी रात उनको प्रवचन देते रहे। धर्मनिरपेक्ष तुर्क इस बात से चिन्तित हैं कि धर्म प्रेरित भीड़ तुर्की की राजनीति में एक स्थाई कारक बन जायेगी, लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि तुर्की की जनता के एक बड़े हिस्से में एरडोगन काफी लोकप्रिय हैं। एक सॉफ्टवेयर कम्पनी स्ट्रीटबीज द्वारा किया गया ऑनलाइन सर्वे यह दिखाता है कि इस सवाल के जवाब में कि आप आर्मी द्वारा सत्ता पर कब्जा करने के समर्थक हैं या विरोधी, 82 प्रतिशत ने तख्तापलट का विरोध किया और केवल 18 प्रतिशत ने समर्थन किया। राष्ट्रपति भले ही तख्तापलट का इस्तेमाल अपने स्वार्थ में कर रहे हों, लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनको लोकतांत्रिक जनादेश हासिल है।

क्या तुर्की आज भी एक लोकतांत्रिक देश है?

एक मायने में हाँ। श्रीमान एरडोगन कि पार्टी एकेपी पिछले साल 1 नवम्बर को हुए आम चुनाव में लोकतांत्रिक तरीके से चुनी गयी थी। लेकिन वे दिनोदिन बढ़ती निरंकुशतावादी सरकार चला रहे हैं और उन्होंने ढेर सारे आलोचक टीवी चैनलों और अखबारों को या तो दबा दिया या उन पर कब्जा कर लिया। श्रीमान एरडोगन एक सर्व सत्तावादी राष्ट्रपति बनने के अपने सपने के करीब हैं जिसमें न्यायपालिका, सशस्त्र सेना और नौकरशाही सहित सत्ता के सभी अंगों को उनके नियंत्रण में हों।

यह यूरोपीय यूनियन और शरणार्थी संकट को कहाँ ले जाकर छोड़ता है?

श्रीमान एरडोगन एक बीहड़ वार्ताकार हैं, लेकिन जहाँ तक लम्बी अवधि के लिए प्रतिबद्धता का सवाल है, वे खुद को अविश्वसनीय साझेदार साबित कर चुके हैं

शेष पृष्ठ 64 पर...

नाटो विस्तार की नयी सरहद : यूक्रेन

-जॉन ओबेर्ग

यूक्रेन के संघर्ष का 25 साल का इतिहास है। नाटो को खत्म करने के बजाय, इस गठबंधन का विस्तार किया गया। सोवियत संघ और वारसा सन्धि से मुक्त होने के बाद, गठबंधन ने बड़ी तेजी से वह सब किया जो वह करना चाहता था। तीसरे विश्वयुद्ध के सम्बन्ध में लिखित उन परिदृश्यों को याद करें, जिनमें बताया गया है कि युगोस्लाविया में घटने वाली कुछ अनियंत्रित घटनाएँ विश्वयुद्ध का कारण बन सकती हैं। अब उन्हें आराम से और बिना किसी आशंका के रद्द किया जा सकता है। सर्बिया पर बमबारी की गयी और बिना संयुक्त राष्ट्र के किसी आदेश के ही 1999 में कोसोवो देश का निर्माण कर दिया गया।

यह हैरानी का विषय है कि जब यह सब हो रहा था उस वक्त क्रेमलिन में इस बारे में क्या सोचा जा रहा होगा?

क्लिंटन ने उन वायदों की कतई परवाह नहीं की जो अमरीकी नेताओं, जैसे बुश और जेम्स बेकर तथा जर्मन नेताओं, जैसे हांस-दितरीच जेंस्तेर ने सोवियत प्रमुख गोर्बाचेव से किये थे। (ये सही है कि ये वायदे लिखित में नहीं किये गये थे, लेकिन इसमें शामिल और उपस्थित लोगों ने इसकी पुष्टि की है)।

क्लिंटन ने 1994 में जोर्जिया में नाटो का विस्तार शुरू कर दिया। रूस द्वारा घुटने टेक दिये जाने के बाद प्रधानमंत्रियों, रक्षामंत्रियों और विदेशमंत्रियों के दफ्तरों में अमरीकियों को स्थापित कर दिया गया। मैंने पूर्व युगोस्लाविया में खुद यह सब देखा और मैं क्रोएशिया में सीआईए के लोगों से

मिला जो मानवाधिकार कार्यकर्ताओं के भेष में काम कर रहे थे। मैंने 1994 में तबलिसी में अमरीकी प्रतिनिधि से एक लम्बी बातचीत की। यह एक ऐतिहासिक क्षण था!

सर्बियावासी, रूसवासी और ग्रीक को बुरे ईसाई, ऑर्थोडॉक्स, माना गया जिनका विरोध किया जाना था और युगोस्लाविया में रहने वाले जो लोग दूसरे विश्वयुद्ध में फासीवादियों के साथ थे, वे अच्छे लोग माने गये, जैसे- क्रोएशिया का नेतृत्व तथा बोस्निया और कोसोवो में रहनेवाले अल्बानियाई मुसलमान। सर्व अल्पसंख्यक जो 400 साल से अल्पसंख्यकों की तरह क्रोएशिया गणतंत्र में रह रहे थे, वे सामूहिक पश्चिमी विमर्श के अनुसार, आक्रमणकारी थे जिनकी अगुवाई दबंग स्लोबोदान मिलोसेविक के हाथ में थी जिसे क्लिंटन ने बिना किसी हिचकिचाहट के 'यूरोप का नया हिटलर' कहा।

यूक्रेन अपने नाम के अनुरूप था और वैसा ही बना रहा- एक सरहदी इलाका (जैसे क्रोएशिया के लिए क्राजिना है)। नाटो का यहाँ खुद को स्थापित करना ऐसा ही है जैसे खुश्चेव का क्यूबा में परमाणु हथियारों को तैनात कर देना जो अमरीका से दूर ही सही फिर भी उसके खिलाफ तैनात थे।

थोड़ी-सी संवेदना (हमदर्दी होना जरूरी नहीं) के साथ कल्पना करें कि वाशिंगटन की प्रतिक्रिया क्या होती यदि पुतिन का मौजूदा रूस, गठबंधन-मुक्त अमरीका से 12 गुणा ज्यादा मजबूत होता (अगर नाटो को 25 साल पहले खत्म कर दिया गया होता) और वह अपने गठबंधन के 28

सदस्यों के साथ कनाडा और मेक्सिको को अपना 29वाँ सदस्य बनाने का प्रयास करता। शायद अमरीका और यूरोप में ज्यादातर लोग वाशिंगटन की नकारात्मक प्रतिक्रिया पर सहानुभूति का भाव रखते। और याद रखें, राष्ट्रपति पद का दावेदार ट्रंप मेक्सिको की सरहद पर एक दीवार खड़ी करना चाहता है।

पश्चिमी प्रेस, नाटो और दूसरे राजनीतिक गलियारों में बार-बार जो प्रमुख वजह बतायी जाती है वह है- यूक्रेन और क्रीमिया। यूक्रेन पर पुतिन की आक्रामकता के झूठ को इतनी बार दोहराया गया है कि यह अब सच बनता जा रहा है। सैकड़ों लेखों में से, हाल ही में न्यूजवीक में छपे दो लेखों पर गौर करें।

आइये वह कहानी देखें जिसे राजनीति और मीडिया दोनों ने चुना

इस कहानी को बेहद सहज बना दिया गया है जो इस प्रकार है - पुतिन एक खलनायक है (पश्चिमी नजरिये से हमेशा ही एक प्रमुख आदमी, एक खलनायक, होता है, जैसे- मिलोसेविक, मोहम्मद फराह एदीद, सद्दाम हुसैन, मोअम्मर गद्दाफी, अल-असद) और उसने अचानक ही अप्रत्याशित रूप से क्रीमिया को हड़प लिया। ऐसा करके उसने यूरोप की सरहदों को बदल दिया और उसके बाद उसने अपने छद्मवेशी सैनिकों को यूक्रेन में भेज दिया एक ऐसा देश जिसकी, बुश सीनियर की सोच से अलग, आज हम बहुत परवाह करते हैं।

हम उसकी इतनी परवाह करते हैं कि देर-सवेर हम यूक्रेन को यूरोपीय यूनियन

और नाटो, दोनों का हिस्सा बनाना चाहते हैं। यही असली जगह है और यूक्रेनवासी भी यही चाहते हैं, विशेष रूप से इसलिए क्योंकि हमने नागरिक समाज को पैसा देकर तथा मीडिया और कॉर्पोरेट पूँजी तथा प्रबंधन से उसे प्रभावित कर लिया है।

नाटो, यूरोपीय यूनियन और मुख्यधारा के पश्चिमी मीडिया के विमर्श में कम से कम दो महत्वपूर्ण तथ्यों की अनदेखी स्पष्ट दिखायी देती है-

पहला, कभी भी इस तथ्य का जिक्र नहीं किया गया कि रूस का सैन्य खर्च नाटो के सैन्य खर्च का 8 प्रतिशत है और सिर्फ इसी एकमात्र कारण से यह तर्क पूरी तरह बकवास है कि रूस नाटो देशों के लिए एक गम्भीर खतरा है

दूसरा, पुतिन के क्रीमिया पर कब्जे से काफी पहले, वाशिंगटन में नवरूढिवादियों ने कुछ सालों के दौरान यूक्रेन के नागरिक समाज में लगभग 5 बिलियन डॉलर खर्च करके कीव में प्रशासन बदलने का माहौल तैयार करने का निश्चय कर लिया था (नवरूढिवादियों का नेतृत्व उनके प्रमुख समर्थक रोबर्ट कागन की पत्नी और यूरोपीय तथा यूरेशियाई मामलों की सहायक सचिव विक्टोरिया न्यूलैंड कर रही थी)। आश्चर्यजनक रूप से, इन सबका रिकार्ड मौजूद है हालाँकि पश्चिमी नेता इनका खंडन करते हैं।

उन्होंने यह सब नव-नाजियों, सेक्टर राइट (यूक्रेन की अतिवादी दक्षिणपंथी राष्ट्रवादी पार्टी) और दूसरों की सहायता से किया। जब भ्रष्ट राष्ट्रपति यानोकोविच ने सरकार और विपक्ष के बीच एक सुलह के समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये तो तुरन्त ही उसे जान से मारने की धमकी देकर भागने के लिए मजबूर कर दिया गया। यह समझौता वहाँ उपस्थित उच्चस्तरीय पश्चिमी नेताओं की देख-रेख में किया गया।

क्रीमिया में रूस की कार्रवाई को मूलतः इसकी प्रतिक्रिया के तौर पर देखा

गया। यह इसे कानूनी, जायज या बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं बनाता। लेकिन खुद से यह सवाल पूछिए कि इस परिस्थिति में पश्चिमी नेताओं ने क्या किया होता?

इस कब्जे का यह महत्त्व नहीं था कि यह पश्चिम के लिए बेहद महत्त्वपूर्ण बात थी, ऐसा नहीं था। नाटो पहले ही वारसा सन्धि के दस भूतपूर्व देशों तक खुद को विस्तृत कर चुका था और एक तरह से वह यह खेल जीत चुका था।

लेकिन यह रूस के लिए बेहद महत्त्वपूर्ण था क्योंकि वहाँ उसका कानूनी रूप से पट्टे पर लिया हुआ सैन्य अड्डा था, जो इलाके में सबसे बड़ा था और जो भूमध्यसागर में जाने का उसका मार्ग था। रूस ने नाटो में शामिल भविष्य के यूक्रेन की कल्पना की और उसने हैरत से सोचा कि एक नाटो देश में वह अपना बेहद महत्त्वपूर्ण सैन्य अड्डा कैसे बनाये रख सकता है? और उसके 30 साल से ज्यादा के पट्टे का क्या होता?

सही है कि यूक्रेन पर कब्जा एक बेहद उलटा दाँव था और साथ ही यह अन्तरराष्ट्रीय कानून का उल्लंघन भी था। लेकिन यह न देख पाना कि रूस कीव में प्रशासन के बदलाव का विरोध नहीं करेगा, बहुत बड़ा भोलापन था या यह इस बात का लक्षण था कि वाशिंगटन में निर्णय लेनेवालों के लिए राजनीतिक तर्क का कोई महत्त्व नहीं रह गया था।

क्रीमिया पर कब्जे का इस्तेमाल बहाना बनाने और रूस को दोषी ठहराने के लिए किया गया

कब्जे ने पश्चिम को खुद अपनी इस बड़ी भूल को छुपाने का एक शानदार बहाना दे दिया कि यूक्रेन को नाटो में शामिल नहीं करना चाहिए था। बहुत से अनुभवी लोगों ने, यहाँ तक कि 'पक्के' दक्षिणपंथी राजनेताओं, जैसे- किर्सिंगर और ब्रेजिंस्की ने चेतावनी दी थी कि इसके बेहद खतरनाक परिणाम होंगे और यह कि यूक्रेन को उसी तरह देखा जाना

चाहिए, जैसे दूसरे विश्वयुद्ध में फिनलैंड को देखा गया था एक ऐसा क्षेत्र जो दोनों पक्षों के लिए तटस्थ और सहयोगी था।

दूसरे लोगों ने समझदारी से तर्क दिया कि यूक्रेन के लिए सबसे बेहतर यही था कि दोनों पक्ष उसका 'इस्तेमाल' करें और उसकी मदद करें, एक ऐसा इलाका जो सभी के साथ सहयोग करे। और वह यूरोपीय यूनियन तथा रूस के नेतृत्व वाले आर्थिक समुदाय और सीमा शुल्क यूनियन, दोनों से सम्बन्ध बनाये रखे।

यह तर्क दिया जा सकता है कि टार्टार्स और उन लोगों के लिए जो रूस के साथ नहीं जुड़े रहना चाहते, उनके लिए एक स्वायत्त समझौता होना चाहिए। ठीक है ऐसा ही किया जाना चाहिए।

इसमें कोई शक नहीं है कि क्रीमिया पर कब्जे ने यूरोपीय सरहद को बदल दिया। लेकिन प्रसिद्ध 'लेकिन' न्यायसंगत अन्तरराष्ट्रीय समुदाय में अलग-अलग राष्ट्रों के लिए अलग-अलग सिद्धान्त नहीं हो सकते। इसलिए यह एक साधारण सवाल के जवाब की माँग करता है-

पश्चिमी/नाटो देशों ने पूर्व यूगोस्लाविया में क्या किया? उन्होंने अच्छी तरह से यह जानते हुए भी, या खेदजनक अनभिज्ञता पूर्वक, युगोस्लाविया को छह गणतंत्रों में विभाजित कर दिया और ऐसा सिर्फ खून-खराबे से ही किया जा सकता था। उसके बाद उन्होंने कोसोवो का निर्माण करने के लिए सर्बिया पर बमबारी की जो कभी भी एक स्वतंत्र राज्य नहीं था। उन्होंने अनोखे ढंग से यूरोप में एक दूसरे स्वतंत्र अल्बानियाई राष्ट्र का निर्माण कर दिया (जो आज भी एक असफल राष्ट्र है)। यह सब बेपनाह हिंसा के बलबूते पर किया गया-- जबकि क्रीमिया पर कब्जे में बेहद कम हिंसा हुई।

अब जब हम अन्तरराष्ट्रीय कानून के उल्लंघन पर बात कर रहे हैं तो यह भी देखना चाहिए कि नाटो देशों के बदलते

गठबंधन ने उन 25 सालों में अफगानिस्तान, इराक, लीबिया, सीरिया, सोमालिया इत्यादि देशों में क्या किया जब रूस बेहद कमजोर था? इनमें से कोई भी कार्रवाई अन्तरराष्ट्रीय कानून के अनुरूप नहीं थी।

एक वस्तुपरक अन्तरराष्ट्रीय अदालत में रूस को क्रीमिया पर कब्जा करने के अपराध में सजा मिलनी चाहिए लेकिन यह अमरीका, फ्रांस, ब्रिटेन, इटली, डेनमार्क इत्यादि को मिलने वाली सजा से बेहद कम होगी।

रूस राय बदलने का प्रयास करता है। क्या पश्चिम ऐसा नहीं करता?

लेकिन उन लोगों के लिए इस बात का कोई महत्त्व नहीं है जो मुख्यधारा के पश्चिमी मीडिया के उस बयान को गढ़ते हैं और इस्तेमाल करते हैं, जिसके अनुसार पश्चिम अपने संकोच और अपनी इच्छा के खिलाफ जाकर, लोकतंत्र, स्वतंत्रता, महिलाओं की आजादी, मानवाधिकार और सभ्यता के सच्चे और उच्च आदर्शों को प्रदान करने/प्रेषित करने, लागू करने के गोरे आदमी के बोझ (“मिशन सभ्यता” असभ्य लोगों के खुद के भले के लिए) का नेक काम करने के लिए खुद का बलिदान करता है।

और निश्चय ही यूक्रेन को असभ्य रूसी भालू के चंगुल से आजाद कराना चाहिए। नाटो और यूरोपीय यूनियन के सदस्य भला ही करना चाहते थे, जब उन्होंने यूक्रेन के अनेकों निर्वाचन क्षेत्रों में घुसपैठ की और प्रशासन में बदलाव कर दिया। और उस मूर्ख, तानाशाह और भ्रष्ट पुतिन पर दया आती है जो नाटो के विशिष्ट परोपकारी, गैर-आक्रामक इरादों और नीतियों को समझ नहीं सका।

नाटो के महासचिव जींस स्टोल्टनबर्ग कहते हैं- “हम एक नया शीत युद्ध नहीं चाहते, हम हथियारों की नयी दौड़ नहीं चाहते और हम नये संघर्ष नहीं चाहते। जब हम अपनी प्रतिरक्षा और अपनी सुरक्षा को मजबूत कर रहे हैं तब हम रूस के साथ एक रचनात्मक बातचीत जारी रखने की आशा करते हैं।”

इन संकीर्ण (दिमागी) घेरे में रहने

वाले लोगों को यह बात समझ नहीं आती, ये लोग लगातार खुद को स्वतंत्र और विरोधी विचारों से बचाते हैं, ये सोचते हैं कि ऐसे वक्तव्य या तो बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं हैं या शुद्ध रूप से भ्रामक हैं और आप इसे पसन्द करें या न करें, मास्को में इन्हें अलग नजरिये से देखा जाता है।

और नाटो के महासचिव महोदय- आप ऐसे बात करते हैं, जैसे आप अवचेतन में अपने उद्देश्यों की विसंगति को अच्छी तरह से समझते हैं और आप दुनिया और रूस को बता रहे हैं कि इसे उस तरह नहीं देखा जाना चाहिए, जैसा यह तार्किक आधार पर दिख रहा है।

संवेदना सुरक्षा नीतियों का एक आम लक्षण नहीं है।

और बेचारे पुतिन दया के पात्र हैं जो इतना भी नहीं समझते कि बैलस्टिक मिसाइल सुरक्षा का रूस से कोई लेना-देना नहीं है, बल्कि यह तो शैतान ईरान के द्वारा यूरोप पर आने वाले खतरे (जिसका हकीकत में कोई अस्तित्व नहीं है) के खिलाफ एक सुरक्षा कवच है। अफसोस की बात है कि वह इसे कितनी गलत तरह से देखते हैं, वह इसे 1945 के बाद के नाभकीय प्रतिरोध सिद्धान्त, यानी एक-दूसरे का निश्चित विनाश और दोनों पक्षों के बीच विश्वास बहाली के पूरे सिद्धान्त के सम्पूर्ण अस्थिरीकरण के गलत नजरिये से देखते हैं। अफसोस की बात है कि क्यूबा मिसाइल संकट के समय अमरीकियों की तरह वह अपने देश की सरहद के इतने पास एक आक्रामक व्यवस्था को पसंद नहीं करते।

तरस खायें उन रूसवासियों पर जो इतने ज्यादा खतरनाक या मूर्ख हैं कि उन्होंने अपनी मातृभूमि हमारी मिसाइलों, परमाणु हथियारों और सैन्य अड्डों के इतने पास रखी- और वे हकीकतन नाटो की नेकनीयती को नहीं देख पा रहे।

अब एक बेहद अलग कथानक और खरी बातचीत का समय है इससे पहले कि बहुत देर हो जाये।

इसे जारी रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। रूस भी मासूम नहीं है। उसका अपना एक मिमाक (मिलिट्री, औद्योगिक, मीडिया, अकादमिक समूह) है। निश्चय ही कुछ लोग कहते हैं कि इस मिमाक का अस्तित्व इसलिए है क्योंकि अन्ततः रूस के पास उत्पादन करने और बेचने के लिए उच्च तकनीक के नाम पर हथियारों के अलावा और क्या है? और हाँ, उसके पास नाभकीय हथियारों का एक बड़ा जखीरा है और वहाँ (अभी तक) पश्चिमी तरह का लोकतंत्र भी नहीं है।

लेकिन पश्चिमी मिमाक के जबरदस्त प्रचार के पीछे एक बड़ा सच छुपा हुआ है। वह यह है कि नाटो की तुलना में रूस आर्थिक, वैचारिक और सैनिक मामले में बौना है।

और इसलिए वह कोई खतरा नहीं है। बशर्ते कि नाटो उसे एक खतरा बनाने का प्रयास जारी नहीं रखता है।

एक ऐसे क्लासिकीय सच को दोहराने में कोई हर्ज नहीं है जिसे ज्यादा समझदार और बुद्धिमान राजनेता उन लोगों से बेहतर जानते हैं जो आज सत्ता में हैं- आप इसे पसन्द करें या न करें, यूरोप रूस के साथ मिलकर सुरक्षा और शान्ति बनाये रख सकता है, उसके खिलाफ जाकर नहीं।

यह एक नये कथानक, एक ईमानदार वार्तालाप और परम्परागत हथियारों के साथ-साथ नाभकीय प्रतिरोधक हथियारों के उन्मूलन का समय है। यह संघर्ष और कहीं नहीं, बल्कि और ज्यादा हथियारों की दिशा में ले जाता है।

अब सैन्यवाद का अन्त करने का और समझदारी से संघर्ष को सुलझाने का समय है इसे सुरक्षात्मक, सामरिक और नागरिक साधनों से हल करना चाहिए।

और ऐसा करने के लिए बहुत ज्यादा समय नहीं है।

(अनुवाद : दिनेश पोसवाल)



एक-दूसरे की तलाश

हिन्दू और मुसलमान की ऐतिहासिक जिम्मेवारी

-मानस 'फिराक' भट्टाचार्य

प्रतिभाशाली उर्दू शायर अली सरदार जाफरी ने 1997 में ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त करते समय एक कहानी सुनायी थी। वह एक बंगाली लघु कथा थी, जिसको उन्होंने कई बरस पहले पढ़ा था। उसके लेखक और शीर्षक के बारे में उन्हें कुछ भी याद नहीं था।

यह कथा बंगाल के ग्रामीण क्षेत्र की थी। कथा इस प्रकार थी— महिलाओं का एक समूह गाँव के तालाब में नहा रहा था। निकट की पहाड़ी पर स्थित दुर्गा मन्दिर की पहाड़ी से वह तालाब दिखायी देता था। अचानक महिलाओं ने एक चूड़ी बेचने वाले की आवाज सुनी जो करीब से गुजर रहा था। महिलाओं ने उत्सुकतावश उसे तालाब के किनारे की ओर बुलाया। वह चूड़ियाँ बेचने की गरज से एक ओर आकर बैठ गया। वह अपनी किस्मत पर खुश था कि उसे एक साथ इतनी तादाद में खरीददार मिल गयीं। महिलाएँ एक-एक करके तालाब से निकलीं और उन्होंने अपने लिए चूड़ियाँ खरीदीं। महिलाएँ चूड़ियाँ पहनकर चली गयीं तो बेचने वाला भी उठकर जाने को तैयार हो गया। उसी क्षण उसे तालाब से आती एक आवाज सुनायी पड़ी। “ठहरो, मेरे लिए क्या है?” चूड़ी बेचने वाले ने मुड़कर देखा अत्यन्त सुन्दर महिला उस समय तक तालाब में थी। वह उसे अनसुना कैसे कर सकता था। ऐसी सुन्दर महिला वह पहली बार देख रहा था। उसने महिला से कहा कि वह बाहर निकलकर आये और चूड़ियाँ पसन्द कर ले। लेकिन चूड़ियाँ बेचने वाले को बहुत आश्चर्य हुआ जब महिला ने कहा कि वह स्वयं उसके लिए चूड़ियाँ पसन्द करे और उसे पहनाये। चूड़ी बेचने वाले को उस महिला की इच्छा पूरी

करने की कल्पना से बहुत खुशी हुई। “मेरा खयाल है इन सुन्दर बाहों में लाल चूड़ियाँ खूब फबेंगी।” उसने महिला को चूड़ियाँ पहना दी। जब उसने चूड़ियों की कीमत माँगी तो महिला ने कहा “क्या बताऊँ मेरे पास पैसे नहीं हैं। जो मन्दिर यहाँ से दिखायी दे रहा है, मेरे पिता उसमें पुजारी हैं। अगर तुम उनसे कहोगे तो वे तुम्हें पैसे दे देंगे।”

चूड़ी बेचने वाला सीढ़ियाँ चढ़कर मन्दिर में पहुँचा और पुजारी से भेंट की। उसने पुजारी को बताया कि उनकी बेटी ने उनसे चूड़ियाँ खरीदी हैं। उसके पैसे वे चुका दें। पुजारी स्तब्ध रह गया “तुम क्या कह रहे हो? मेरी बेटी? तुमने उसे कहाँ देखा?” चूड़ी बेचने वाले ने पुजारी को पूरी कहानी सुनायी। पुजारी तालाब की तरफ दौड़ा, उसके पीछे-पीछे चूड़ी बेचने वाला भी लपका। उस जगह पहुँचने पर उन्हें वहाँ कोई दिखायी नहीं पड़ा। पलक झपकते ही पुजारी समझ गया कि वह औरत कौन थी और घटना किस प्रकार हुई थी। वह चीखने लगा “हे माता, यह कैसा न्याय है। मैंने तुम्हारी पूजा करते अपनी जिन्दगी गुजार दी और उसके बदले में तुमने इस चूड़ी बेचने वाले को दर्शन देना पसन्द किया।” पुजारी किसी तरह शान्त नहीं हो पा रहा था। ठीक उसी क्षण तालाब के पानी से स्त्री का हाथ बाहर निकला। उस हाथ में लाल चूड़ियाँ दिखायी दे रही थीं।

जाफरी ने कहा कि बंगाली कहानी यहीं खत्म हो जाती है। इसी के साथ उन्होंने कुछ अंश जोड़ा “...उसी दिन संध्या के समय जब लोग मस्जिद में नमाज के लिए इकट्ठा हुए तो वह चूड़ी बेचने वाला भी उनमें शामिल था। हिन्दुस्तान में जैसा

कि हम जानते हैं, परम्परा के रूप में मुसलमान ही चूड़ियाँ बेचते हैं।

जाफरी ने कहानी में जो अंश जोड़ा वह केवल सामाजिक परम्परा की ही कहानी नहीं है। वस्तुतः वह अनेक अर्थों को ध्वनित करती है जो विभिन्न सामाजिक वर्गों को एक साथ जोड़ती है।

‘राष्ट्र और कल्पना’ शीर्षक से टैगोर पर लिखे एक निबन्ध में दीपेश चक्रवर्ती ने पश्चिम द्वारा स्थापित राष्ट्र की कल्पना से सम्बन्धित उस विचार का खण्डन किया था जिसमें केवल विषय-केन्द्रित और चिन्तन प्रधान कल्पना को ही मान्यता दी गयी है। चक्रवर्ती के अनुसार भारत में उपनिवेशवाद विरोधी कल्पना का स्वरूप पश्चिम के राष्ट्र की कल्पना से न केवल स्वायत्त सांस्कृतिक मामले में भिन्न रहा है, बल्कि कल्पना से अलग रूपों में भी, जिसमें दर्शन देना या पाना भी एक रूप है। यह राष्ट्र का ‘दर्शन करने’ के संघर्ष में एक नया आयाम खोलता है। दर्शन करना एक कार्यात्मक तौर तरीके के रूप में पूज्य और पूजक के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करता है। चक्रवर्ती इसे टैगोर की ‘भारत माता’ से जोड़ते हैं। इस सीमा के अन्तर्गत ‘दर्शन करने’ के विचार का सामना एक सीमित और बहिष्कारी प्रतीक से होता है जो एक हिन्दू धार्मिक चौखटे के भीतर पूरी तरह अस्तित्वमान और फैला हुआ होता है।

बंगाली कथा को दुबारा सुनाते हुए जाफरी का कथन एक आमूलचूल मोड़ लेता है, एक धार्मिक समुदाय के भीतर निर्धारित सामाजिक और सांस्कृतिक विधि-विधान को लाँघ जाता है तथा हिन्दू और मुसलमान के बीच आमना-सामना को

अपने दायरे में समेट लेता है। यह आमना-सामना नैतिक रूप से आग्रही होता है तथा दो परस्पर विरोधी विश्वासों को मानने वाले के बीच स्वीकार्यता के तौर-तरीकों की खोज पर ध्यान देता है।

कहानी में जाफरी के जोड़े हुए अंश को छोड़कर देखें तो कोई भी व्यक्ति चूड़ी बेचने वाले के देवी दर्शन प्रकरण को अहमन्यता के विरुद्ध विनम्रता के रूप में नैतिकता के सन्दर्भ में देखेगा। ठोस शब्दों में यहाँ विनम्रता का सम्बन्ध समाज के दलित वर्गों और जातियों से जुड़ा है। अहमन्यता को ब्राह्मण भद्र वर्ग से जोड़ा गया है। सम्पूर्ण प्रकरण एक महत्वपूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक भेद प्रदर्शित करता है, जो (सांस्कृतिक) सत्ता और (नैतिक) मूल्य के बीच के सम्बन्धों को पलट देता है और जिससे कहानी के राजनीति निहितार्थ की सम्भवाना स्पष्ट होती है। लेकिन सब के बावजूद कहानी हिन्दू समुदाय के सन्दर्भ तक ही सीमित रहती है। जाफरी ने जो अंश जोड़ा है वह कहानी के सन्दर्भ और अर्थ को हिन्दू-मुस्लिम के बीच आमना-सामना के दायरे में मूल्य और सत्ता के प्रभाव को विस्तारित करने का प्रयास है।

दर्शन देने का विचार शुद्ध रूप से हिन्दू है, मुस्लिम समुदाय में दैवत्व की धारणा का कोई मूर्त स्वरूप नहीं है। किन्तु चक्रवर्ती के अनुसार दर्शन अनुभवकर्ता व्यक्ति के 'आस्थावान' होने पर निर्भर नहीं करता। टैगोर की कविता में वर्णित दर्शन के क्षण से इसे जोड़ते हुए चक्रवर्ती इसे मानव-स्वभाव का अवचेतन स्वरूप ठहराते हैं। इस बात का महत्व नहीं है कि मुस्लिम चूड़ी विक्रेता ने देवी के साथ हुए सामना को दर्शन नहीं माना, बल्कि यह महत्वपूर्ण है कि ब्राह्मण ने यह विश्वास किया कि जिस देवी की जीवन भर पूजा की उसने ऐसे व्यक्ति के सामने प्रगट होना पसन्द किया जो उसके वर्ग, जाति और धर्म से बाहर था। यह पुजारी का सत्य से साक्षात्कार था जहाँ वह स्वयं को विनम्रता (दण्डवत्) की स्थिति में पाता है हालाँकि इस बात का अनुमान लगाना असम्भव है कि क्या इससे उसके मन में किसी सीमा तक विनम्रता पैदा हुई। देवी द्वारा छले जाने की भावना उसके पूर्वाग्रहों

की पहचान नहीं मानी जा सकती।

यह कहानी एक ऐसे कर्ता का प्रयोग करके जो उसके धर्म-क्षेत्र से बाहर है, लेकिन जो सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और नैतिक रूप से जुड़ा हुआ है, महत्वपूर्ण शिक्षा देती है। मुसलिम चूड़ी विक्रेता जो देवी और ब्राह्मण पुजारी की साझा दुनिया से बाहर का है, ब्राह्मण पुजारी की नैतिक दुर्बलता को उजागर करता है। ध्यान देने योग्य तथ्य है कि पुजारी ने घटना को दर्शन की संज्ञा दी। किन्तु चूड़ी विक्रेता ने उसे सौन्दर्य का स्वरूप समझा। वस्तुतः चूड़ी विक्रेता और पुजारी दोनों को चकमा देते हुए सौन्दर्य का यह दैवीय स्वरूप, स्वयं पूजा की वस्तु का रूप ग्रहण न करते हुए नैतिक पाठ प्रस्तुत करता है।

कहानी में उद्धृत दोनों घटनाओं में नाटकीयता है जो दर्शन की भाषा में लिखी गयी है-- देवी चूड़ी विक्रेता से चूड़ियाँ खरीदती है और फिर उन्हें पुजारी को दिखाती है। पूजा वस्तु बनने के विरुद्ध देवी/महिला का प्रतिरोध उस समय और भी अधिक शक्ति से प्रकट होता है, जब वह चूड़ी पहने हुए हाथ प्रदर्शित करती है। यहाँ राजनीतिक संदेश के साथ नाटकीयता भी है कि उसने एक साधारण व्यक्ति की चूड़ियाँ स्वीकार कर ली जो दूसरी जाति और धर्म से सम्बन्धित था।

यह कहानी हिन्दू और मुसलमान के बीच ऐतिहासिक और सांस्कृतिक आमना-सामना से सम्बन्धित कौन सा नैतिक प्रश्न उठाती है? स्पेनी कवि एंटोनियो मैकाडो ने इतिहास में "अन्य का अर्थ" पर शायद सर्वाधिक जटिल अंश लिखा है जिसका उल्लेख पाज ने किया है : "अन्य का अस्तित्व नहीं है यह विवेक सम्मत विश्व के मानवीय विवेक का असाध्य विश्वास है। पहचान यानी यथार्थ, मानो अन्त में हर वस्तु का एक ही गुण होना अनिवार्य और सुनिश्चित है। किन्तु अन्य विलुप्त होने से इनकार करता है। वह ठहरता है, टिकता है, यह कठोर अस्थि की तरह है जिस पर विवेक के दाँत टूट जाते हैं। अबेल मार्टिन काव्यात्मक विश्वास, मानवीय और तार्किक विश्वास के साथ अन्य में यकीन करता था, "अस्तित्व की

अनिवार्य अनेक रूपता" को स्वीकार करता था। जिसे असाध्य अन्यत्व कहा जा सकता है जिससे अनन्यता की हानि तय है।

हम तर्क कर सकते हैं : बंगाली कहानी में, दर्शन देने के विचार को जिसे जाफरी ने दोहराया है, तर्कपूर्ण श्रद्धा से आगे जाकर काव्यात्मक श्रद्धा के क्षेत्र में प्रवेश है, जहाँ व्यक्ति चाहे या न चाहे दूसरे की उपस्थिति स्वीकार करने के लिए बाध्य होता है। इस कहानी में अथवा किसी दूसरे संदर्भ में "काव्यात्मक श्रद्धा" क्या होती है? यह कदाचित्त उस विश्वास के निकट है जिसे जैक्स देरिदा ने "स्पेक्टर्स आफ मार्क्स" में "असम्भव का अनुभव" के अर्थ में परिभाषित किया है जो "कदाचित्त का रेडिकल अनुभव हो सकता है।"

पुरोहित और चूड़ी विक्रेता दोनों ने ही प्रत्येक दिन से अलग एक ऐसे क्षण का अनुभव किया जिसका अर्थ अनुमान-जन्य और रहस्यपूर्ण किन्तु सौन्दर्य की उपस्थिति से आक्रान्त है। उनकी अपनी निजी तार्किक श्रद्धा उस क्षण का अर्थ समझने में असमर्थ होती है, जो उन्हें एक दूसरे के निकट खींच लाता है। जो महिला दृश्य पटल से तिरोहित हो गयी वह उनके सामने अनेक प्रश्न छोड़ गयी जिसका उत्तर उन्हें खोजना था। यदि देवी का अर्थ राष्ट्र की देवी है जिसकी टैगोर ने अपने कवि जीवन में कल्पना की है, तो इसकी कथा हमें हिन्दू और मुस्लिम के बीच सम्बन्धों के बारे में विचार-विमर्श के लिए विवश करती है।

यदि हिन्दू की पूजा विधि के रूप में देवी दर्शन तथा इस्लाम और अब्राहमी धर्म के लिए मसीहाई शब्द "काव्यात्मक श्रद्धा" हैं, तो दोनों के बीच निश्चय ही परस्पर संवाद की परिस्थिति तैयार हो सकती है, जैसा कि मैकाडो का अप्रमाणित चरित्र मडेल मार्टिन करता है काव्यात्मक श्रद्धा ही अन्य की उपस्थिति को मान्यता देती है। काव्यात्मक श्रद्धा में ही भविष्य के बीज होते हैं। इसके पीछे कुछ ऐसे प्रश्न छूटते हैं, जिनका उत्तर उस तर्कपूर्ण श्रद्धा की सीमाओं और पूर्वाग्रहों को देना होता है। आखिर "तर्कपूर्ण श्रद्धा" का विचार किसी एक विषय की संरचना और विधान से घिरे

होने पर स्व को यथार्थ के समकक्ष स्थापित करता है। अन्य की उपस्थिति किसी व्यक्ति के अन्दर अपने विचार में “शायद” के प्रश्न को उठाने की अनुमति देता है। यह “शायद” का तत्त्व ही है जो जाफरी के ऐतिहासिक संस्करण में उस बंगाली कहानी को समृद्ध करता है। यह शायद दो चरित्रों—चूड़ी बेचने वाले और पुजारी को एक-दूसरे के करीब लाते हैं, भले ही देवी (राष्ट्र की) के साथ दोनों के सम्बन्ध भिन्न हैं।

इसी तरह एक दूसरी कहानी है, जो नैतिकता, काव्यात्मक श्रद्धा और भारतीय हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों पर प्रकाश डालती है।

यह कहानी कराची के सूफी कव्वाल फरीद अयाज के साथ मेरी मुलाकात से सम्बन्धित है। मैंने उनसे इंडिया इंटरनेशनल सेंटर से भेंट की। जहाँ वे कबीर पर आयोजित समारोह में भाग लेने आये थे। शुरुआती दुआ सलाम के बाद मैंने उनका फोटो खींचने का आग्रह किया। उन्होंने जोर-जोर से “मेरी तस्वीर लेकर क्या करोगे तुम” गाते हुए बनावटी हिचकिचाहट दिखायी। मैंने उनकी ही प्रेरणा से उन्हीं की शैली में उत्तर दिया, “एक काफिराना शौक पूरा करेंगे।” अयाज की आँखें चमक उठी, मुस्कराये और सरल

स्वर में बोले, “पर हम तो काफिर को वहाँ ढूँढ़ रहे थे।” इसी के साथ उन्होंने उंगली से आसमान की तरफ इशारा किया। मैंने मुस्कराते हुए संवाद को पूरा किया “और देखिए हम यहाँ मिल गये।”

शायद हिन्दू मुसलमान के बीच यह आमना-सामना नैतिक सम्भावना के पीछे अनेक स्पष्ट रहस्य निहित हैं। जब अयाज ने वहाँ शब्द पर जोर देते हुए आसमान की तरफ उँगली से इशारा किया तो मुझे नीतिशास्त्र पर यहूदी विचारक इमैनुएल लेविन्स का कथन याद आया-- यह “अंतरिक्ष” में है, जिसे पाल सेवन ने “मेरीडियन” कहा है-- जहाँ कोई एक दूसरे से मिलता है। इस मिलन में इन्तजार करना और एक-दूसरे की बात सुनना-समझना तथा इतिहास के खून-खराबे और “तार्किक श्रद्धा” की आत्मकेन्द्रित निश्चितताओं को अनन्तकाल के लिए टालना अन्तर्निहित है। अगर इतिहास हमारी समस्याओं का समाधान नहीं कर सकता तो हमें जवाब के लिए इसकी ओर कान देने की कोई जरूरत नहीं। क्योंकि जवाब के रूप में अब तक हमें हिंसा दी--ऐसी हिंसा जो दूसरे से मिलने या दूसरे बात की

सुनने से इनकार करती है।

शायद “काव्यात्मक श्रद्धा” के साथ हमें भेंट-- मुलाकात पर विश्वास करना चाहिए जहा। मार्टिन बूबर के कथनानुसार हम स्वयं भेंट-मुलाकात है, हमारे भीतर ही वह सब कुछ अनन्तम नहीं रहता। हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों को चाहिए कि वह इतिहास को ठुकराकर या उसे भूलकर नहीं, बल्कि इस बात पर ध्यान देकर जो बात इतिहास हमें एक-दूसरे के बारे में बताते में असमर्थ रहा है अपना कर्तव्य पूरा करें। हिन्दू का ऐतिहासिक कर्तव्य है कि वह मुसलमान की तलाश करें और मुसलमान का यह फर्ज है कि वह हिन्दू की तलाश करे। यह जिम्मेवारी ऐतिहासिक है, किन्तु आग्रह नैतिक है। इतिहास से समाधान के रास्ते की तलाश करना।

(अनुवादक-- चारुचन्द्र त्रिपाठी हिन्दी के वरिष्ठ पत्रकार वर्तमान में स्वतंत्र लेखन)



...पृष्ठ 58 का शेष

यह रूस के साथ सम्बन्धों को किस तरह प्रभावित करेगा (उस रूसी विमान को मार गिराने के बाद, जबकि रूसी राष्ट्रपति व्लादिमीर पुतिन के साथ एक बैठक होनी है)?

तख्तापलट से पहले तुर्की उस जहाज को मार गिराने के लिए प्रभावी रूप से माफी माँग चुका है। श्रीमान एरडोगन रूस और इजराइल से सम्बन्ध सुधारकर तुर्की के अन्तरराष्ट्रीय अलगाव को कम करना कहते हैं।

लेकिन रूस के साथ सम्बन्ध सुधारना तब तक मुमकिन नहीं लगता जब तक तुर्की उन समूहों का समर्थन कर रहा है जो सीरिया के राष्ट्रपति बशर अल-असद को सत्ताच्युत करना चाहते हैं और रूस इस बात के लिए वचनबद्ध है कि वह सीरिया में सत्ता परिवर्तन नहीं होने देगा।

(अनुवाद-- दिगम्बर)

किस्सा डिजिटल इंडिया!

2011 में मनमोहन सरकार ने सारे गाँवों को ब्रॉडबैंड से जोड़ने की एक योजना शुरू की थी। मोदी जी के डिजिटल इंडिया में इसका नाम हो गया भारत नेट-- 5 साल में 70 हजार करोड़ का बजट, लेकिन अब तक दावा है सिर्फ 61 हजार गाँवों को जोड़ने का, लेकिन असल में काम करने वाले कनेक्शन सिर्फ 7 हजार गाँवों में ही हैं, और वहाँ भी इसके इस्तेमाल करने वाले नदारद! इस ढोल पीटू योजना का फायदा क्या सिर्फ उन कम्पनियों को ही नहीं जो नेटवर्किंग का सामान बेचती हैं? लेकिन ‘विकास’ के इन चकाचौंध वाले हवाई किलों के खर्च के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, महिला एवं बाल कल्याण, आदि पर होने वाले पहले से ही बहुत मामूली खर्च में भी सरकार कटौती कर चुकी है।

प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष करों के जरिये जो पैसा हमसे वसूल किया जाता है (स्पष्ट है कि सिर्फ अमीर ही नहीं, प्रत्येक नागरिक टैक्स देता है), उसको खर्च करने की योजना, इस व्यवस्था में इस आधार पर नहीं बनायी जाती कि उससे गरीब मेहनतकश जनता को क्या राहत मिलेगी, बल्कि करोड़ों की फीस लेने वाले कॉर्पोरेट कंसलटेंटों की सिफारिशों के आधार पर बनायी जाती है, जिनका आधार होता है कि इससे किस उद्योग को कितना मुनाफा होगा।